UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष ६ अङ्क २

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी १३/९० सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, २०१७

सम्पादक :
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष ६ अङ्क २

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

February**, 2017**

Editor :
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा	

शोधलेख

1.	त्रिकदर्शन में गुरु का स्वरूप	प्रो. बीना अग्रवाल	1–9
2.	स्कन्दागमीय–विग्रहविमर्श	डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	10–18
3.	आगम एवं पञ्च मकार का वास्तविक स्वरूप	प्रो. चन्द्रकान्त दवे	19–31
4.	परमार्थसारदिशा आत्मस्वरूपविमर्श:	गोपाल प्रसाद शर्मा	32–37
5.	महाभारतीय देवता तत्त्व निरूपण	डॉ. दयानिधि शर्मा	38–42
6.	महाविद्या भगवती तारा सपर्या विधि	आचार्य नटवरलाल जोशी	43–53
7.	आगम तथा पौराणिक साहित्य में उपासना	डॉ. तेजनाथ पौडेल	54–63
8.	सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति:	डॉ. कमलाकान्तत्रिपाठी	64–70
9.	महाभारतीय गीता साहित्य के स्वरूप का अनुसन्धान	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	71–82

10.	Kashmir (Trika) Shaivism in Prospect and Retrospect	Dr. Chaman Lal Raina	83-93
11.	शाक्ततन्त्रे वाक्तत्त्वमीमांसा	भास्कररायः	94-100
12.	तन्त्रालोक की आगमिक पृष्ठभूमि	डॉ. योगेश शर्मा	101-104

सम्पादकीय

सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यमन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है। इस अङ्क के प्रथम आलेख 'त्रिकदर्शन में गुरु का स्वरूप' में प्रख्यात प्रोफेसर बीना अग्रवाल ने काश्मीर की शैव परम्परा के अनुसार गुरु तत्त्व का महनीय शास्त्रीय विवेचन सप्रमाण प्रतिपादित किया है जो इसके गाम्भीर्य को प्रकट करता है।

द्वितीय आलेख 'स्कन्दागमीय विग्रहविमर्श' में गम्भीर शोधअध्येता डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय ने वैदिक, पौराणिक एवं तन्त्रागमिक साहित्य में निरूपित स्वामी कार्तिक के दैविक स्वरूप का विशद विवरण प्रदर्शित किया है, जो सर्वथा वन्द्य है। दाक्षिणात्य परम्परा में सुब्रह्मण्य के रूप में स्वामी कार्तिक की विशिष्ट महिमा लोकमानस में अद्यावधि सुप्रसारित है। इसमें साधना के विविध आयाम भी सुस्पष्ट किये गये हैं। यह अत्यन्त ज्ञानवर्धक, प्रामाणिक एवं समुपयोगी है।

तृतीय आलेख 'आगमिक पञ्चमकारों का वास्तविक स्वरूप' विषय पर जगद्गुरु पुरी शङ्कराचार्य श्री निरञ्जनदेवतीर्थ के सुपुत्र प्रो. चन्द्रकान्त दवे ने पञ्चमकारों के गुह्य एवं शास्त्रीय रहस्य को सप्रमाण विवेचित कर साधकों के लिये महान् उपकार किया है। तन्त्र के वास्तविक तात्पर्य से अनभिज्ञ कपटी साधकों ने इस विद्या की प्रतिष्ठा को व्यर्थ ही धूमिल किया है अत: वास्तविक तात्पर्य साधकों के लिए अवश्य ज्ञातव्य एवं आचरणीय है।

चतुर्थ आलेख में 'परमार्थसारदिशा आत्मस्वरूपविमर्श:' में गोपाल प्रसाद शर्मा ने आत्मा के स्वरूप का विवेचन *परमार्थसार* के आधार पर किया है जो अति प्रामाणिक एवं युक्तिसंगत है।

पञ्चम आलेख में महाभारत में उपवर्णित देवताओं के स्वरूप के विषय में प्राचीन परम्परा का गहन अनुसन्धान किया गया है।

षष्ठ आलेख में दश महाविद्याओं में द्वितीया भगवती तारा की आराधना विधि पर आचार्य नटवरलाल जोशी ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। आगमानुसरिणी पूजा विधि इष्ट साधन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। शास्त्रों के अनुसार इसका विधानसम्मत अनुष्ठान करने पर ही सिद्धि प्राप्ति मानी गई है अत: तारा के उपासकों के लिये यह आलेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवदान है।

सप्तम आलेख 'आगम एवं पौराणिक साहित्य में उपासना' विषय पर उपयोगी तत्त्वों का यथोपलब्ध समुचित निरूपण है।

अष्टम आलेख 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' में काशी के वरेण्य मीमांसक प्रवर डॉ. कमला कान्त त्रिपाठी ने आहार की शुद्धि में नैतिकता या धर्मसम्मत अर्जन की महत्ता शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर सुदृढ़ रूप में व्यवस्थित की है। केवल स्वच्छता एवं शुद्धता से भी ज्यादा महत्त्व अर्जित धन की पवित्रता से है। अन्यथा अधर्म से अर्जित धन भयङ्कर अशुभ फल प्रदाता है। यह एक गम्भीर शास्त्रीय अनुसन्धान है जो सर्वथा ग्राह्य होना चाहिये। यह हमारे धर्मसम्मत अर्जन की प्रतिष्ठा को सुप्रमाणित करता है। एतदर्थ साधुवाद।

नवम आलेख में लेखक ने महाभारत में गर्भित गीताओं के स्वरूप एवं अनुसन्धान प्रक्रिया के तार्किक आधार तथा प्रमाणों को सुस्पष्ट करने का विनम्र प्रयास किया है जो गीता विषयक अवधारणा के बोध के लिए परमावश्यक है।

दशम आलेख में काश्मीर शैवदर्शन के मर्मज्ञ डॉ. चमनलाल रैना ने इस दर्शन के आधारभूत तत्त्वों का मर्म समझाने का अद्‌भुत प्रयास किया जो इनके गम्भीर शास्त्रीय अध्ययन का परिचायक है।

एकादश आलेख में 'शाक्ततन्त्रे वाक्तत्वमीमांसा' विषय पर शोधार्थी विद्वान् भास्कर राय ने महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय शोधपत्र समुपस्थापित किया है। शाक्तदर्शन के गहन शास्त्रीय पद्धति के अनुसार वाक्-विषयिका यह विवेचना प्रस्तुत की गई जो शाक्त तन्त्र के गहन शोध के अनुसार प्रतिपादित की गई है, जिसके लिए वे साधुवाद के अधिकारी है।

द्वादश आलेख 'तन्त्रालोक की आगमिक पृष्ठभूमि' विषय पर डॉ. योगेश शर्मा ने शैवदर्शन के आकर ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' के साहित्यिक अवदान पर संक्षिप्त विमर्श करते हुए उसके महत्त्व को रेखांकित करने का कमनीय प्रयास किया है।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

आगामी मार्च मास में 'त्रिपुर सुन्दरी साधना' विषय पर राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभागस्थ उच्च अध्ययन केन्द्र में राष्ट्रिय संगोष्ठी के आयोजन का निश्चय किया है जिसमें सभी श्रीविद्योपासक साधक एवं सुधीलेखक सादर आमन्त्रित है।

सम्पादक

त्रिकदर्शन में गुरु का स्वरूप

प्रो. बीना अग्रवाल

काश्मीर का अद्वयवादी त्रिकदर्शन तान्त्रिक विचारधारा और साधना का व्यवस्थित एवं दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस दर्शनतन्त्र को दस भेदप्रधान, अट्ठारह भेदाभेद प्रधान एवं चौंसठ आगमों का साररूप माना गया है।[१] अभिनवगुप्त ने त्रिकदर्शन को वैष्णव तथा बौद्ध आदि समस्त आगमों का चरम उत्कर्ष माना है।[२] उन्होंने अन्य दर्शन पद्धतियों को देह के विभिन्न अङ्गों के समान बताते हुए त्रिकदर्शन को उन सभी में प्राण की भाँति अनुस्यूत माना है।[३]

त्रिकदर्शन के अनुसार परमतत्त्व शिव स्वातन्त्र्य शक्ति से अपने अपरिच्छिन्न स्वरूप को सीमित कर के पाशबद्ध पशु के रूप में स्वयं को आभासित करता है[४] और उस पशु की मुक्ति के लिए वह स्वयं ही अनुग्रह-शक्ति से सम्पन्न गुरु के रूप में प्रकट होता है—**शिव आचार्यरूपेण लोकानुग्रहकारकः।**

इस प्रकार परमतत्त्व के दृष्टिकोण से तो ईश्वर, जीव और गुरु में कोई अन्तर नहीं होता; किन्तु सामान्य जीव को यह ऐक्यानुभूति गुरुकृपा से ही उपलब्ध हो सकती है। यह ऐक्यानुभूति ही कश्मीर शिवाद्वयवाद में आत्मस्वरूपलाभ, केवलीभाव, स्वरूपप्रथन अथवा मोक्ष नाम से जानी जाती है।

गुरुकृपा के अतिरिक्त ज्ञान और साधना को भी इस ऐक्यानुभूति का साधन माना जाता है। परन्तु इन दोनों ही माध्यमों के लिए गुरु की भूमिका अपरिहार्य होती है। ज्ञान तो कदाचित् शास्त्रतः अथवा स्वतः प्राप्त हो भी जाए, किन्तु उपायरूपा क्रियात्मक साधना की उपलब्धि तो किसी उपदेष्टा गुरु के बिना कथमपि सम्भव नहीं है। गुरु ही शिष्य की योग्यता की परीक्षा करके उसकी योग्यता के अनुरूप उसके लिए साधना का निर्णय करता है। गुरु ही दीक्षा एवं अभिषेक आदि क्रियाओं के माध्यम से उसे साधना के मार्ग में प्रवृत्त भी करता है।

---

१. *तन्त्रालोक*, 1.18.

२. वही, 35, 30-1.

३. वही, 35, 32.

४. (क) वही, 4, 10. (ख) शिव एव गृहीतपशुभावः।

साधना के लिए सद्गुरु का आश्रय भी परमशिव की अनुग्रह-शक्ति अथवा शक्तिपात होने पर ही प्राप्त होता है। शक्तिपात के उपरान्त शिष्य स्वत: ही उस श्रेष्ठ गुरु की ओर आकृष्ट होता है जो उसके भोग एवं मोक्ष की सिद्धि की सामर्थ्य रखता है—**भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति।**[५]

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार पूर्ण सत्य का प्रतिपादक शास्त्र ही सच्छास्त्र है एवं पूर्ण सत्य का ज्ञाता गुरु ही सद्गुरु है।[६] पूर्ण तत्त्व को प्रकट न करने वाले शास्त्र और गुरु क्रमश: माया और वामा शक्ति से अधिष्ठित होने के कारण असत् शास्त्र या असद्गुरु कहलाते हैं। माया के कारण ही जीव अमोक्ष को मोक्ष समझ कर इधर-उधर भटकता रहता है।[७] यद्यपि वह मायाशक्ति के कारण असत् शास्त्र और असद्गुरु में आस्थावान् होता है तथापि शिव की अनुग्रह-शक्ति से उसमें भी सत्तर्क अथवा परामर्श का आविर्भाव हो सकता है। स्वयं के अतिरिक्त सत्तर्क अथ शुद्धविद्या के उदय के उपाय गुरु एवं शास्त्र माने गए हैं। इन उपायों में 'स्वयं' श्रेष्ठ है, जिसमें गुरु के उपदेश अथवा शास्त्रज्ञान के बिना ही सत्तर्क का उदय हो जाता है। ऐसे उत्तम साधक 'स्वभ्यस्तज्ञानवान्' अथवा 'सांसिद्धिकसंवित्' कहलाते हैं। वे दीक्षा और अभिषेक आदि के बिना ही योग्य एवं श्रेष्ठ अधिकारी होते हैं।[८] इसी प्रकार सांसिद्धिकसंवित् अथवा प्रातिभ ज्ञान से सम्पन्न गुरु ही श्रेष्ठ होता है। प्रातिभ ज्ञान के द्वारा 'सर्वं शिवमयं जगत्' का साक्षात् अनुभव हो जाता है। जगत् के नानाविध पदार्थों में संविदभिन्न शिवतत्त्व का दर्शन उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।[९] ऐसे प्रातिभ ज्ञान से सम्पन्न आचार्य ही शिष्य की योग्यता को पहचान कर, उसे ज्ञानोपदेश देता है और दीक्षा, चर्या एवं योग आदि के माध्यम से ही उस शिष्य के भोग एवं मोक्ष की सिद्धि में समर्थ होता है।[१०] अगर गुरु प्रातिभ ज्ञान के साथ ही साधना के संस्कारों से भी सम्पन्न हो तो वह साक्षात् अभीष्ट की सिद्धि सम्पादित करने वाला होता है। यह इसलिए भी सम्भव है क्योंकि ज्ञान और क्रिया परस्पर उपकारक होते हैं।[११] वस्तुत: साधना भी ज्ञान पर ही आश्रित है, अत: ज्ञान ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए *ब्रह्मयामल* तथा *कुलार्णव* आदि तन्त्रों में भी ज्ञानसम्पन्नता को ही गुरु का एकमात्र लक्षण स्वीकारा गया है—

---

५. *तन्त्रालोक*, 13, 202.

६. *भारतीय संस्कृति और साधना*, पृ. 252.

७. भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।

८. (अ) इति श्रीमालिनीनीत्या य: सांसिद्धिकसंविद:। स उत्तमाधिकारी स्यात्...।
(ब) यस्य स्वतोऽयं सत्तर्क: सर्वत्रैवाधिकारवान्।
अभिषिक्त: स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितश्च स:।। — *तन्त्रालोक*, 4.42.3.

९. *तन्त्रालोक*, 13, 181, 27.

१०. वही, 15, 13-18.

११. वही, 13, 158.

(1) सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुत्तमः।[१२]

(2) सर्वलक्षणहीनोऽपि तत्त्वज्ञानी गुरुः स्मृतः।
तस्मात्तत्वविदेवेह मुक्तो मोचक एव च।।[१३]

यद्यपि *तन्त्रालोक* (15, 16) में भी 'ज्ञानवान्हि गुरुर्मतः' कहकर गुरु की ज्ञानसम्पन्नता को ही मुख्य माना गया है तथापि मानवरूपधारी गुरु के बाह्य लक्षण *कुलार्णवतन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र* (1, 13-17), *तन्त्रलोक* (23, 8-17) आदि ग्रन्थों में विस्तार से प्रस्तुत किये गए हैं। इन लक्षणों में गुरु की आकृति, जनक, जन्मस्थान एवं अन्य शास्त्र में आसक्ति आदि के आधार पर उसका आश्रय न लेने का निर्देश किया गया है। देहगत एवं देशज चिह्नों के आधार पर किसी की योग्यता का निर्णय एक स्थूल परम्परा का पालन ही प्रतीत होता है, अतः इसके विषय में विद्वान् दार्शनिक अभिनवगुप्त को स्पष्टीकरण भी देना पड़ा। उसके अनुसार देहगत काणत्वादि चिह्न द्रष्टा के मन में द्वेष उत्पन्न करते हैं और काश्मी आदि विशिष्ट प्रदेशों में उत्पन्न गुरु का निषेध करने का कारण सम्भवतः यह मान्यता रही होगी कि वहाँ के लोग प्रायः क्रोधी होते हैं। किन्तु सम्यग्ज्ञानवान् व्यक्ति में क्रोधादि का पाया जाना सम्भव नहीं है। इसलिए शिष्य को चाहिए कि देश, कुल तथा आचार सम्बन्धी लक्षणों पर ध्यान न देकर सम्पूर्ण ज्ञानवान् मनुष्य को ही गुरु बनाए—

अतो देशकुलाचारदेहलक्षणकल्पनाम्।
अनादृत्यैव सम्पूर्णज्ञानं कुर्याद् गुरुर्गुरुम्।।[१४]

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि वह दर्शन जो अपनी मान्यताओं में शुद्ध-अशुद्ध, उचित-अनुचित, हेय-उपादेय आदि भेदों को स्वीकार नहीं करता उसके शास्त्रों में गुरु के निर्धारण में देहगत एवं जन्मसम्बन्धी लक्षणों की महती भूमिका हो, एवं अभिनवगुप्त जैसे विद्वान् दार्शनिक, जिन्हें समस्त द्वैतभाव से परे योगिनीभू माना गया है, इसका समर्थन करें।[१५] यह एक विचित्र विरोधाभास है। इस प्रश्न के समाधान के लिए एक विचार यह प्रस्तुत किया जाता है कि वस्तुतः ज्ञान का कोई रूप या आकार नहीं होता; उसकी उपस्थिति तो मन, बुद्धि, मस्तिष्क अथवा चित्त में होती है। उसकी अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है और अभिव्यक्त करने का साधन मानव का शरीर होता है। साधन अगर दूषित हो तो उससे सम्पन्न होने वाले कार्य के प्रतिकूल रूप से प्रभावित होने की सम्भावना बनी रहती है। सम्भवतः इसीलिए साधनभूत शरीर की लौकिक मर्यादाओं की बात कही गई है। इस लोक में रहकर परलोक अथवा परम अमूर्त ज्ञान आदि की बात करना

---

१२. विवेक 4, 67 में *ब्रह्मयामल* से उद्धृत।

१३. *कुलार्णवतन्त्र*, 13, 121.

१४. *तन्त्रालोक*, 23, 16-17.

१५. वही, 4, 42-43, 13, 140-42.

भी लोक की सीमा में ही सम्भव होता है और इसीलिए पारलौकिक मान्यताओं में भी लौकिक मर्यादाओं का प्रवेश हो जाता है।

ज्ञानसम्पन्नता को ही गुरु का एकमात्र निर्विरोध लक्षण स्वीकार किया गया है तथापि ज्ञान के स्वरूप, स्तर एवं प्राप्ति के उपाय में भेद निश्चित रूप से पाया जाता है। इन भेदों के कारण गुरु के भी निम्न कुछ प्रकार बतलाए गए हैं—

1. अकल्पित

परम शक्तिपात से अनुगृहीत होने के कारण गुरु एवं शास्त्रादि की अपेक्षा न करते हुए जो साधक प्रातिभ ज्ञान को सिद्ध कर लेता है वह सांसिद्धिक[१६] कहलाता है। सांसिद्धिक को बाह्यक्रियात्मक उपायदीक्षा और तदुपकरणभूत मण्डलयोगादि के बिना ही असन्दिग्ध रूप से निर्वाणगामिनी दीक्षा प्राप्त हो जाती है। उसे पुस्तक में लिखित मन्त्रों से मन्त्रवीर्य ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त होती है। उसकी इन्द्रियाँ ही अन्तर्मुख होकर उसके स्वात्मा के साथ ऐक्य सम्पादित कर देती हैं। ये द्योतनकारिणी संविद्देवियां हैं जो उसके ज्ञान–क्रियाख्य प्रसुप्त चैतन्य को उत्तेजित करती हैं और उसके दीक्षा एवं अभिषेकादि कृत्यों को निष्पन्न करती हैं। बहिर्मुख चित्त की वृत्तियाँ ही वस्तुत: अन्तर्मुख अवस्था में शक्तियाँ कहलाती हैं।[१७] अकल्पित साधक समस्त आचार्यों में श्रेष्ठ होता है। उसकी उपस्थिति में अन्य आचार्य परानुग्रह आदि के अधिकारी नहीं होते। यद्यपि पाशनाशादि का सामर्थ्य सभी गुरुओं में होता है किन्तु ज्ञानप्राप्ति के साधन और उसके माध्यम के कारण ज्ञान के उत्कर्ष में अन्तर होने से कल्पितादि गुरु अकल्पित गुरु के समक्ष अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन नहीं करते। सांसिद्धिक प्रातिभ महाज्ञान से सम्पन्न ऐसा गुरु अपनी सामर्थ्य के बल पर शिष्य को सम्पूर्ण जगत् से संविदैक्य की अनुभूति करा सकता है। यह ऐक्यानुभूति व्युत्थान दशा में भी खण्डित नहीं होती। गुरु की यह सामर्थ्य संविदैक्यानुभूति को प्राप्त करने वाले शिष्य की योग्यता पर निर्भर करती है। शिष्य निर्मल संवित् से सम्पन्न हो तो अनुग्रह निरुपाय होता है; और यदि शिष्य निर्मल संवित् से शून्य हो तो शास्त्र, साधन आदि उपायों का सहारा लेकर गुरु प्रथमत: उस शिष्य के चित्त को निर्मल करता है और तत्पश्चात् उसमें ऐक्यानुभूति को आविष्ट करता है।

2. अकल्पितकल्पक

जिस गुरु में आत्मभावना के बल पर ज्ञान का उदय तो हो गया है किन्तु जिसके ज्ञान में सांसिद्धिक गुरु के समान परिपूर्णता नहीं है वह अकल्पितकल्पक कहलाता है। ज्ञान के स्वत: उदित होने के कारण 'अकल्पित' और आत्मभावना के द्वारा शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के कारण 'कल्पित' होने के कारण ऐसा गुरु

---

१६. तेनास्य स्वात्मन्यन्यानपेक्षणात् सांसिद्धिकत्वमेव।

१७. चित्तं मन्त्र, *शिवसूत्र*, 2.1.

अकल्पित-कल्पक नाम से जाना जाता है।[१८] आत्मभावना के अतिरिक्त अन्य निमित्तों से भी स्वयंप्रवृत्त ज्ञान की परिपूर्णता को प्राप्त करना सम्भव है। श्रीमद्वाजसनीय, श्रीवीर, श्रीब्रह्मयामल, श्रीसिद्धा आदि शास्त्रों में बताया गया है कि ध्यान, जप, स्वप्न, व्रत तथा होम आदि के माध्यम से भी जिज्ञासु शास्त्रादि में अधिकार प्राप्त कर लेता है।[१९]

यद्यपि भावना के माध्यम से ज्ञान में परिपूर्णता प्राप्त होती है पुनरपि भावना को अकल्पितकल्पक गुरु या प्रमुख लक्षण नहीं माना जा सकता। अभिनवगुप्त इस सन्दर्भ में ब्रह्मयामल को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हुए कहते हैं कि किसी भी उपाय से गुरु के लिए साध्य तो तत्त्वज्ञान ही है।[२०] अत: गुरु का लक्षण तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता।

3. कल्पित

जिस गुरु में सत्तर्क का उदय स्वत: नहीं होता और कारण जो अकल्पित गुरु की भक्तिपूर्वक सेवा करके शास्त्रोक्त विधि से दीक्षापूर्वक शास्त्रज्ञान को प्राप्त करता है ऐसे व्यक्ति में अकल्पित गुरु की सेवा में रहकर वृद्ध-व्यवहार के माध्यम से शास्त्रज्ञान ग्रहण करने के कारण शुद्धविद्या का उदय होता है।[२१] इसीलिए कहा है कि किसी भी उपाय से भक्तिपूर्वक आराधना करके गुरुप्रदत्त दीक्षादि के माध्यम से जो शास्त्र का ज्ञान और शास्त्रज्ञान से परमज्ञान को प्राप्त कर लेता है उसे कल्पित गुरु कहते हैं। कल्पित गुरु भी एक बार आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर अकल्पित के समान ही पापनाशपूर्वक शष्य के अनुग्रह में समर्थ होते हैं, किन्तु अकल्पितादि गुरु के सम्मुख ऐसे गुरु अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन नहीं करते।

4. कल्पिताकल्पक

जिसे गुरु एवं शास्त्र आदि के माध्यम से ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में अकस्मात् ही स्वत: पारमार्थिक तत्त्व का बोध हो जाता है वह शास्त्रादि से ज्ञान प्राप्त करने के कारण 'कल्पित' होते हुए भी स्वत: शुद्धविद्यारूप परामर्श के उदय के कारण 'अकल्पक' होता है। अत: इस प्रकार का गुरु कल्पिताकल्पक कहलाता है।[२२] इस गुरु का स्वत: सत्तर्क को उदित करने वाला अकल्पित भाग श्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि उसमें शुद्धविद्या का उत्कर्ष होता है।

---

१८. *तन्त्रालोक एवं विवेक*, 4.52.

१९. *तन्त्रालोक*, 4, 53-58.

२०. वही, 4, 59-60.

२१. वही, 4, 69-71.

२२. वही, 4, 72-3.

गुरु के उपर्युक्त प्रकारों में प्रातिभज्ञान, शुद्धविद्या अथवा स्वयं प्रवृत्त सत्तर्क का ही विशेष महत्त्व है। केवल उसकी प्राप्ति के उपायों में अन्तर है। जब परिमितसंवित् साधक की अपनी क्षमताओं के आधार पर प्रातिभ ज्ञान आदि स्वयं प्रादुर्भूत न हो पाए तब वह गुरु के द्वारा दीक्षारूपी तलवार से पाशों का कर्त्तन कर दिए जाने पर शास्त्रों से प्राप्त भावनाओं से भावित होकर प्रातिभ ज्ञान को प्राप्त करता है। साधक की चित्तभूमि में यह ज्ञान उसी प्रकार विकसित होता है जिस प्रकार बीज समय पर बो दिए जाने के पश्चात् भलीभाँति सिंचाई किए जाने पर कालान्तर में वृक्ष के रूप में विकसित हो जाता है।[२३] प्रातिभ महाज्ञान से उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व की शिवमयता का साक्षात्कार होता है—

स्वच्छायादर्शवत्पश्येद्बहिरन्तर्गतं शिवम्।।[२४]

यह प्रातिभ अथवा सांसिद्धिक ज्ञान चिन्तामणि के समान समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाला माना गया है। इससे सम्पन्न साधक में तिल तथा आज्य आदि की आहुति से रहित निर्वाणगामिनी दीक्षा स्वत: सम्पन्न हो जाती है। वह साधक मण्डलादि के ज्ञान के बिना ही समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। यज्ञादि की विधि को शास्त्रादि के माध्यम से न जानते हुए भी वह विधानज्ञ हो जाता है। इस प्रकार समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले प्रातिभज्ञान के समक्ष गुरु एवं शास्त्रादि ज्ञानप्राप्ति के उपाय आनुषंगिक ही हैं। तथापि जिस गुरु में प्रातिभज्ञान के साथ क्रियाशीलता का भी संस्कार हो वह साक्षात् वरदायी होता है।[२५]

ज्ञानप्राप्ति के उपायों—गुरु, शास्त्र एवं स्व के भेद के ही समान ज्ञान प्राप्त करने वाले शिष्य की योग्यता में भी अन्तर होता है; कुछ शिष्य ज्ञान-प्राप्ति के योग्य होते हैं तो कुछ दीक्षा के योग्य; कुछ योगयोग्य होते हैं तो कुछ चर्यायोग्य।[२६] शिष्यों की योग्यता का यह अन्तर शक्तिपात के तारतम्य पर आधारित होता है। शक्तिपात के तीव्र, मध्य एवं मन्द तीन स्तर होते हैं; और इन तीनों के पुन: तीन-तीन तीव्र-तीव्र, तीव्रमध्य एवं तीव्रमन्द—इस प्रकार नौ भेद होते हैं। इन भेदों के आधार पर शिष्य को प्राप्त होने वाले भोग एवं मोक्ष के स्तर, क्रम व क्षिप्रता आदि का निश्चय होता है। शक्तिपात में स्तरभेद से मार्ग एवं प्रक्रियाभेद होने पर भी अन्ततः एक ही लक्ष्य—शिवरूपता—की प्राप्ति होती है।[२७]

त्रिकदर्शन की एक अन्यतम विशेषता यह है कि यह दर्शन अन्य दर्शन-सम्प्रदायों को अपना विरोधी न मानकर आत्मस्वरूपलाभ-रूप गन्तव्य में सोपानक्रम-रूप मानता है; और इसीलिए अन्य शास्त्रों व

---

२३. *तन्त्रालोक*, 13, 174-6.

२४. वही, 13, 182.

२५. वही, 13, 150-158.

२६. वही, 13, 163.

२७. *वही*, 13, 211-246.

सम्प्रदायों का आश्रय लेने वाले तत्त्वज्ञानोन्मुख जिज्ञासुओं के लिए इसके द्वार सदैव अनावृत रहते हैं। इस पर नियन्त्रण में लिङ्गोद्धार–दीक्षा के माध्यम से अधरतन्त्र में दीक्षित साधक का संस्कार करके उसे शैवशास्त्र में दीक्षित किया जाता है। इस ऊर्ध्वानयन में भी शिवेच्छा अथवा शक्तिपात ही प्रमुख कारण है।[२८]

इसी प्रकार प्रारब्धवश अधरतन्त्र अथवा अज्ञानी गुरु का आश्रय ले लेने वाले शिष्य के लिए अन्य श्रेष्ठ गुरु का आश्रय लेने का विधान किया गया है। अज्ञानी गुरु का त्याग आवश्यक है; क्योंकि जड़रहित वृक्ष में पुष्प, फलादि का उद्भव सम्भव नहीं है।[२९] ऐसे गुरु के द्वारा प्रदत्त मन्त्र निर्वीर्य होते हैं।[३०] एक गुरु को त्याग कर दूसरे गुरु का आश्रय लेने में गुरु का श्रेष्ठ ज्ञान से सम्पन्न न होना ही एकमात्र कारण नहीं होता है; अपितु ज्ञान की तीव्र पिपासा से युक्त शिष्य भी एक के बाद एक, कई आचार्यों के शिष्यत्व को उसी तरह ग्रहण कर सकता है जिस प्रकार मधु का लोभी भ्रमर अनेक पुष्पों का आश्रय लेता है—

आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं त्विति।।[३१]

विभिन्न गुरुओं का आश्रय लेने की यह प्रवृत्ति वैदिक परम्परा में भी पाई जाती है। एक उद्धरण है कि जिस प्रकार पानी उतार की ओर बहता है उसी प्रकार शिष्य भी विख्यात गुरुओं की ओर दौड़ कर चले जाते थे—

यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्।
एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः।।[३२]

अज्ञ गुरु के आश्रय को छोड़कर श्रेष्ठ गुरु के आश्रय की व्यवस्था केवल शिष्य के लिए नहीं है, गुरु भी शिष्य को ज्ञान, दीक्षादि देने के पश्चात् यदि यह अनुभव करे कि वह शिष्य योग्य नहीं है व ज्ञान के वांछित स्तर को प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं रखता है तो वह प्रदत्त विज्ञान का उस शिष्य से पुनः हरण कर सकता है।[३३] यह पञ्चकृत्यकारी शिवरूप गुरु का तिरोधान नामक पञ्चम कृत्य है और वह शिष्य जिस पर गुरु कुपित हो, तिरोहित कहलाता है—

---

२८. *तन्त्रालोक*, 13, 356–7.

२९. वही, 13, 336.

३०. वही, 32, 33–4.

३१. वही, 22, 45–6; *कुलार्णवतन्त्र*, 13, 132 में भी इसी प्रकार का श्लोक मिलता है।

३२. *तैत्तिरीय उपनिषद्*, 1.4.3.

३३. *तन्त्रालोक*, 23, 50–51.

गुरुर्हि कुपितो यस्य स तिरोहित उच्यते।[३४]

तिरोधान एवं अनुग्रह, ये दोनों ही कृत्य गुरु की 'गुरुता' को सुरक्षित रखते हैं। इन दो शक्तियों से रहित गुरु उस राजा के समान है जिसकी कृपा एवं कोप दोनों ही निरर्थक होते हैं और जिसकी आज्ञा का पालन प्रजा के लिए कोई बाध्यता नहीं होती। सामर्थ्यवान् गुरु शक्ति के द्वारा योग्य शिष्य को मनोवांछित फल प्रदान कर सकता है और साथ ही निग्रह अथवा तिरोधान के माध्यम से अयोग्य शिष्य से स्वयं को मुक्त कर सकता है। इस प्रकार गुरु में शिव की समस्त शक्ति और जगत् की सारी स्थिति संरक्षित रहती है। गुरु ही दीक्षा के द्वारा मन्त्र प्रदान कर के अथवा ज्ञानयोग्य शिष्य को शास्त्रज्ञान देकर परमतत्त्व को प्राप्त कराता है। इसलिए उसके ही अधीन सम्पूर्ण व्यवस्था होती है—

गुरुदीक्षामन्त्रशास्त्राधीनसर्वस्थितिस्ततः।[३५]

यहाँ तक कि अलग-अलग प्रतीत होने वाले देवता, मन्त्र आदि को भी गुरुरूप ही माना गया है। *कुलार्णवतन्त्र* में कहा गया है—

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थवाचकः।
तथा देवश्च मन्त्रश्च गुरुश्चैकार्थ उच्यते।।
यथा देवस्तथा मन्त्रो यथा मन्त्रस्तथा गुरुः।
देवमन्त्रगुरूणाञ्च पूजया सदृशं फलम्।।[३६]

इसी तन्त्र में गुरु की महिमा बताते हुए कहा गया है—

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो महेश्वरः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।।[३७]

जड़-चेतन, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ एवं पाप-पुण्य आदि समस्त द्वैतों का निराकरण करने वाले अद्वयवादी त्रिकदर्शन में गुरु एवं शिष्य के द्वैत के लिए भी कोई स्थान नहीं है। एक ही संवित् विविध जागतिक पदार्थों के रूप में ग्रसृत होती हुई वैखरी आदि दशा को प्राप्त होकर अपने स्वरूप का संकोचत करते हुए प्रश्नकर्त्ता शिष्य के रूप में प्रस्तुत होती है।[३८] प्रश्नोत्तर के रूप में विद्यमान सम्पूर्ण आगमशास्त्र के प्रारम्भ में

---

३४. *तन्त्रालोक*, 23, 63.

३५. वही, 16, 302.

३६. वही, 13, 64-5.

३७. *कुलार्णवतन्त्र*, 12, 49.

३८. *तन्त्रालोक*, 1, 253.

ही स्पष्ट किया गया है कि स्वयं देव सदाशिव अथवा शक्ति ने प्रश्नकर्त्ता व उत्तरदाता के रूप में स्थित रह कर तन्त्रज्ञान को प्रस्तुत किया है। न केवल प्रश्नकर्त्ता अपितु प्रश्न एवं उत्तरभूत ज्ञान और उसे प्रदान करने वाला गुरु, सभी कुछ संवित्स्वरूप ही है। इनमें प्रतीत होने वाला भेद वास्तविक नहीं है—

स्वयमेवं विबोधश्च तथा प्रश्नोत्तरात्मकः।
गुरुशिष्यपदेऽप्येष देहभेदो ह्यतात्त्विकः।।[३९]

इस प्रकार गुरु-शिष्य एवं प्रश्न-उत्तर आदि में संवित् के संकोच और प्रसार का ही अन्तर है। अन्ततः समस्त भेदों का विगलन उस परमतत्त्व में ही हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ विवरण

1. *कुलार्णवतन्त्र*, सं. आर्थर एवलॉन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1975.
2. *तन्त्रालोक* (भाग, 3, 5, 6, 8) — अभिनवगुप्त, सं. रामचन्द्र द्विवेदी एवं नवजीवन रस्तोगी, दिल्ली, 1987 (8 भाग)।
3. *परमार्थसार* — अभिनवगुप्त, सं. कमला द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
4. *भारतीय संस्कृति और साधना* (भाग 1) — म.म. गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1977.
5. *शिवसूत्र* — सं. जयदेव सिंह, दिल्ली, 1998.
6. *स्वच्छन्दतन्त्र भाग* 1, सं.पं. मधुसूदन कौल शास्त्री, कश्मीर, 1930.

अधिष्ठाता, कलासंकाय,
संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर 302004
दूरभाष - 09414442037

३९. *तन्त्रालोक*, 1.256.

स्कन्दागमीय-विग्रहविमर्श

डॉ. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

आगमशास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय 'क्रिया' है जिसके अन्तर्गत देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का साङ्गोपाङ्ग वर्णन। भारत के मन्दिरों में सुब्रह्मण्य की उपासना प्रधान स्वतन्त्र देवता के रूप में, सम्प्रधान देवता के रूप में और परिवार देवता के रूप में होती है। ऐसे सैकड़ों देवालय हैं, जहाँ सुब्रह्मण्य स्वतन्त्र प्रधान देवता है और शिव, विष्णु तथा गणेशादि परिवार देवताओं के रूप में प्रतिष्ठापित हैं। पाञ्चरात्रागम *नारदीयसंहिता* में महर्षि गौतम के प्रार्थना करने पर देवर्षि नारद ने दो प्रकार के विमानों (देवालयों) का निरूपण किया है—स्वतन्त्र तथा अस्वतन्त्र। ग्रामादि में अस्वतन्त्र तथा तीर्थादि स्थलों में स्वतन्त्र देवालय होने का विधान विहित है।[१] यहीं पर यह भी कहा गया है कि विजय की कामना रखने वाले व्यक्ति को 'स्कन्द' का यजन करना चाहिए।[२] *वैखानसागम* के कश्यपज्ञानकाण्ड में ब्राह्मणाराध्य देवता के रूप में भगवान् स्कन्द की गणना की गई है।[३] भगवान् के मन्दिर के प्रकारों और विमानों में दिव्य तथा ब्रह्मा आदि देवता बिम्बरूप में स्थापित होते हैं। पाञ्चरात्रागम के *सनत्कुमारसंहिता* में प्रतिपादित है कि आग्नेय आदि कोणों में क्रमश: कौशिक, गणेश, कामदेव तथा स्कन्द को स्थापित करें।[४] ये परिवार देवता कुमारी, कुमार, गणेश, विनायक सिद्धगण हमें मङ्गल प्रदान करें।[५] गृह या देवागार में 'गुह' की मूर्ति उत्तर दिशा में स्थापित करने का निर्देश है। पाञ्चरात्रागम के *पाद्मसंहिता* क्रियापाद अध्याय दो में सुब्रह्मण्य देवालय को ग्राम के दक्षिण में पूर्वाभिमुख बनाने का निर्देश है। यहाँ आराधना का फल भूतादि-हानि कही गई है।[६]

भगवान् सुब्रह्मण्य के कई स्वतन्त्र गुफा-मन्दिर दक्षिण भारत में पाये जाते हैं। शिव और विष्णु के मन्दिरों में मुख्य परिवार देवता के रूप में भी उनकी पूजा-अर्चना होती है। परिवार देवता सुब्रह्मण्य की मूर्ति प्रधान गर्भगृह की दीवारों में अलग देवकोष्ठ में स्थापित रहती है या मन्दिर के प्राकार में अलग मन्दिर में गर्भगृह में

---

१. *नारदीयसंहिता*, 28/2-3.

२. स्कन्दं जयार्थी सर्वदा यजेत्। — *नारदीयसंहिता,* 28/8A

३. एतेष्वपि द्विजो नित्यं विष्णु भगवन्तं ब्रह्माणं विं स्कन्दं सरस्वतीं चार्चयेत्। — ज्ञानकाण्ड अध्याय 19.

४. कौशिकं च गणेशं च कन्दर्पं स्कन्दमेव च। आग्नेयादिषु कोणेषु यथासंख्यं प्रकल्पयेत्।। —*सनत्कुमारसंहिता,* इन्द्ररात्र 5/3.

५. *सनत्कुमारसंहिता,* ऋषिरात्र, अध्याय 6.

६. *पाद्मसंहिता,* क्रियापाद, अध्याय 2.

प्रतिष्ठापित होती है। काञ्चीनगर के प्राचीन शिव मन्दिर में गर्भगृह की उत्तरी दीवार के प्रकोष्ठ में भगवान् सुब्रह्मण्य अक्षमाला और कुण्डिका को धारण करके ज्ञान की मूर्ति बनकर भक्तों को दर्शन दे रहे हैं। प्राचीन संघ साहित्य से मालूम होता है कि सुब्रह्मण्य सम्प्रधान देवता के रूप में भी उपास्य थे। शिव, बलराम, कृष्ण और शेयोन (मुरुगन) के नाम प्राय: एक साथ उल्लिखित मिलते हैं। वास्तुग्रन्थों में भी मन्दिर निर्माण के समय देवता-मण्डल में सुब्रह्मण्य के लिए विशेष स्थान की सूचना मिलती है। पल्लववंशी राजाओं के उपलब्ध कुछ शिल्प पट्टिकाओं में शिव, नरसिंह, लक्ष्मी आदि के साथ सुब्रह्मण्य भी एक ही वेदी पर अङ्कित हैं। महाबलिपुरम् की त्रिमूर्ति गुफा में सुब्रह्मण्य, शिव और विष्णु के मन्दिर साथ-साथ निर्मित हैं।

मन्दिर के ब्रह्माण्ड का रूप माना जाता है। यह केवल इसलिए कि विमान को मानवाकार माना गया है जो ब्रह्माण्ड का स्वरूप है। (यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे) इसीलिए जिस प्रकार मानव शरीर में षट्चक्र होते हैं जिनका भेदन ज्ञान के लिए अपरिहार्य है। उसी भाँति मन्दिर में षट्चक्रों का निर्माण हो बल्कि इसलिए भी कि मुरुगन के भक्त तमिलनाडु के छ: पवित्र स्थलों पर उनका दर्शन करते हैं।[७]

परिवार देवता की संख्या के अनुसार देवालय निर्माण प्रक्रियाएँ आगम ग्रन्थों में विविध प्रकार की बताई गई हैं। प्राय: सभी प्रकार के विमानों में 'स्कन्द' का स्थान वर्णित है।[८] द्वितीयावरणभास्कारादि परिवार स्थान निरूपण में सुब्रह्मण्य-आलय का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—

किञ्चिद्दक्षिणमाश्रित्य ऐन्द्रद्वारस्य दक्षिणे।
सुब्रह्मण्यं समुद्दिश्य आलयं परिकल्पयेत्।।[९]

तृतीयावरण-गङ्गादि परिवार स्थान वर्णन क्रम में 'गुहालय' का विधान निम्नवत है—

इन्द्रेशानकयोर्मध्ये ज्येष्ठावासं प्रकल्पयेत्।
गुहादीनां मुखा: सर्वे रुद्रादिमुखवन्मुखान्।।[१०]

नारदीयसंहिता में स्कन्द-पूजा की क्रम-विधि निर्दिष्ट है। तदानुसार अधोलिखित है—

स्कन्दयागमथो वक्ष्ये शृणुध्व मुनिपुङ्गव।
वायव्ये नैर्ऋते कोणे कुर्यात् स्कन्दालयं शुभम्।।
श्रीपत्रपुष्पसंकाशं बालरूपं चतुर्भुजम्।

---

७. *The Many Faces of Murukan,* p. 176.

८. *विमानार्चनकल्प पटल* 14.; समूर्त्तार्चनाधिकरण अध्याय 11.

९. *खिलाधिकार* 7/62.

१०. *निरुक्ताधिकार* 9.

शक्तिहस्तं विशेषेण बालाभरणभूषितम्।।
रुक्माभं लाञ्छितं कुर्यात् प्रसादं तु विशेषतः।
मयूरं पूर्वदिग्भागे शक्तिमाग्नेयगोचरे।।
मेधां दक्षिणपार्श्वे तु प्रज्ञां नैर्ऋतगोचरे।
द्विरदं पश्चिमे भागे वायव्ये कुक्कुटं न्यसेत्।।
उत्तरे देवसेनां तु विद्यामीशानगोचरे।
कुं कुमाराय मन्त्रोऽस्य नमोऽन्तः प्रणवादिकः।।
षठ्यां विशेषयागस्तु कर्त्तव्यस्तस्य भक्तितः।।[११]

स्कन्द प्रतिमा का स्वरूप *वैखानस आगम* में वर्णित है, जो निम्नवत् है—

स्कन्दं पलाशपुष्पाभं षड्भुजं वा चतुर्भुजम्।
बालमौक्तिकसमायुक्तं विकचप्रीतिवाचकम्।।
देवयानीं च तत्पार्श्वे स्थाने चेन्न समाचरेत्।
आसने दक्षिणे तेन चासित्वाऽन्योन्यऽवीक्षणे।।
अर्धसाचीकृतं देव्याः तस्यार्धं भर्त्तुरिष्यते।
सर्वेषामपि देवानामासनं चैव दैविके।।
देवी श्यामनिभा तस्य देवयानी वराङ्गना।
दुहिता सा हि धर्मस्य नित्यं धर्मपरायणा।
तस्यालये तु विधिना सुसेनं स्थापयेत् क्रमात्।
सुसेनोऽञ्जनवर्णः स्याच्छूलहस्तो गदायुधः।।
वाहनं हस्तिनं कुर्यान्मयूरं वा यथोचितम्।
नवहस्तमिभं कुर्यादुत्सेधः सप्तहस्तकः।।
आयामार्धं ततः शेषं नाह उदाहृतः प्रदेश...न्नतो विद्याच्छिरसो मस्तकं तयोः।।
नाहेनार्धपरीणाहः पादहीनं तु गात्रयोः गात्रार्धपरिणाहो वा पादहीनः करोर्ध्वकः।।
भूमिलम्बं तथा कुर्यात् करं वालमनुच्छितम्।
मानं नखानां तत्रैव चतुरङ्गुलमिष्यते।।
भागान्तराणां तेषां वै सर्वं बोद्धव्यमित्यथ।
तयोर्मानं ययेभस्य मानं कुर्याद् भयङ्करम्।।
इभानामेव सर्वेषा मानमित्यमुदाहृतम्।

११. *नारदीयसंहिता,* 28/41-45.

ऐरावतं विनाऽन्येषां नालो वर्णः प्रकीर्तितः।।[१२]
अत्र शक्तिधरः कक्कुटकेतुक फाल्गुने इत्यधिकम्।[१३]

कालिकापुराण में स्कन्द, विशाख के मूर्तिवर्णन उपलब्ध हैं।[१४] *विष्णुधर्मोत्तरपुराण* में भी इनकी मूर्तियों के स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है।[१५] शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थ *मयमतम्* में 'षण्मुख' प्रतिमा का स्वरूप चित्रित है।[१६]

विशाख की पत्नी वैशाखिनी का स्वरूप *वैखानसागम* में निर्दिष्ट है—

वैशाखिनी स्वर्णनिभा शक्तिहस्ता चतुर्भुज।।
कृक्लासध्वजा रक्तवसना च गुहाधिपा।
ज्येष्ठमासे तथा देवी कृत्तिकर्क्षसमुद्भवा।।[१७]

विमानार्चनकल्प में रक्तवर्णा, श्वेताम्बधरा तथा षण्मुखी वैशाखिनी को विशेष रूप से दिखाया गया है।[१८] *दुर्गासप्तशती* में मोरों तथा मुर्गों से घिरी रहने वाली तथा महाशक्ति धारण करने वाली कौमारीरूपधारिणी शक्ति का वर्णन प्राप्त होता है।[१९]

देवयानीपति तथा मयूरध्वजवाहन युक्त महामुनि मरीचि प्रोक्त *विमानार्चनकल्प* में 'गुह' 'स्कन्द' को षण्मुख, सर्वाभरणभूषित बताया गया है—

काश्यपस्य पश्चिमे चोत्तराभिमुखः पलाशपुष्पाभः षड्भुजः षण्मुखः सर्वाभरणभूषितो बालमौलियुतो देवयानीपतिर्नामाद्यक्षरबीजः शङ्खो मयूरध्वजवाहनो गुहः।[२०]

आगम ग्रन्थों में स्कन्द वाहनों का स्वरूप वर्णित है। यहाँ इनके गज तथा मयूर दो वाहन पृथक् पृथक् निर्दिष्ट हैं। ऐसा लगता है कि जब योद्धा रूप में सेनाध्यक्ष होते हैं तब गजारूढ़ होते हैं। प्रथम गजवाहन का लक्षण इस प्रकार है—

---

१२. *खिलाधिकार* 15/160-170.
१३. *क्रियाधिकार* 5/243-44.
१४. *कालिकापुराण* 46/82-85, 60/50.
१५. *विष्णुधर्मोत्तरपुराण* 2/22/88.
१६. *मयमतम्* 36/119-121.
१७. *क्रियाधिकार* 5/232-233.
१८. *विमानार्चनकल्प* पटल 20.
१९. *दुर्गासप्तशती* 11/15.
२०. *विमानार्चनकल्प* पटल 20.

स्याद् द्वादशकरायामो मितं करपितेस्सदा।
सतालनवहस्तः स्यादुत्सेधस्सर्वसम्मतः।।
प्रवालाभश्चतुर्दन्तः श्वेतवर्णो गजाधिपः।
दन्ताश्च युग्मसंस्थानां सुगताः शोभना मताः।।
परिणाहादिकं तेषामूर्ध्वयुक्तया समाचरेत्।।[२१]
नवहस्तमितं कुर्यादुत्सेधं सप्तहस्तकम्।।
आयामार्धं ततः पादं शेषं नाहमुदाहृतम्।
प्रादेशिकं ततो विद्यात् शिरसोरस्कस्तयोः।।
नाहेनार्धपरीणाहं पादहीनं तु मात्रयो(?) गात्रस्यार्धपरीणाहं पादहीनं करोर्ध्वगम्।
तस्मात् त्रिभागादेव स्यात् कराग्रे नाह उच्यते।
भूमिलम्बं तथा कुर्यात् करस्याग्रमनुच्छ्रितम्।।
(मानं नखानां तस्यैव चतुरङ्गुलमिष्यते।)
गात्रान्तरेषु तेषां वै सर्व बोद्धव्यमित्यतः।।
ऐरावतं विनान्येषां नीलवर्णमुदाहृतम्।।[२२]

स्कन्द के द्वितीय वाहन मयूर का लक्षण अधोलिखित है—

पञ्चाक्षकाः समाख्यातास्सुन्दराः पञ्चवर्णकाः।
मयूरा ये प्रदृश्यन्ते तथा प्रकृतमानकाः।।
दिव्याश्चेदधिकं मानं देहानां च समाचरेत्।
हस्तं पादं तथायामत्रितयं तत्समं स्मृतम्।।
चूडा षडङ्गुलं प्रोक्तं विस्तारः कोलकं भवेत्।
गोलकोत्सेधसौन्दर्यं वीक्ष्य कुर्याद्विचक्षणः।।[२३]

क्रियाधिकार को उपर्युक्त लक्षण अभीष्ट है।[२४] तमिल भाषा के कवियों द्वारा मयूराधिष्ठ कुङ्कुमरक्तवर्ण सुब्रह्मण्य की तुलना नील समुद्र में उदित होने वाले सूर्य से की जाती है। इसका यह भी कारण है कि तमिल भाषी भक्त उगते सूरज को मुरुगन का ही रूप मानते हैं। रक्त और पीत वर्ण का सम्बन्ध स्कन्द से माना जाता

---

२१. *खिलाधिकार* 15/171-173.

२२. *क्रियाधिकार* 5/244-249.

२३. *खिलाधिकार* 15/177-179.

२४. *क्रियाधिकार* 5/25628.

है। आगमग्रन्थों में मूर्ति निर्माण की प्रक्रिया में ये दोनों रङ्ग परिवर्तनीय हैं। डॉ. गोपीनाथ राव का कथन है कि ये दोनों रङ्ग उदीयमान सूर्य के रङ्ग हैं। इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि सूर्य को सविता (प्रसविता) कहा जाता है। जो इनका रङ्ग है वही रङ्ग स्कन्द का भी है। इस आधार पर भी स्कन्द को सृष्टिकर्त्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[२५]

भगवान् कार्तिकेय की उपासना विधि आगमों में, विशेषतया कुमारतन्त्र एवं गाणपत्य आगमों में प्रतिपादित है। *प्रयोगसार, शारदातिलक* तथा अनेक प्राचीन ग्रन्थों में इनकी उपासना पद्धति में किञ्चित् अन्तर भी दिखलायी देता है। *श्रीतत्त्वनिधि* में भगवान् सुब्रह्मण्य के ज्ञानशक्ति सुब्रह्मण्य, स्कन्दसुब्रह्मण्य आदि 16 स्वरूपों के उदार एवं सौम्य स्वभाव का वर्णन किया गया है। प्राय: इनके ध्यान का स्वरूप अत्यन्त सुन्दर है।

शारदातिलक में कार्तिकेय का स्वरूप निम्नवत है—

सिन्दूरारुणकान्तिमिन्दुवदनं केयूरहारादिभि–
र्दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं स्वर्गस्य सौख्यप्रदम्।
वरमुद्राभयशक्तिकुक्कुटधरं रक्ताङ्गरागांशुकम्।
सुब्रह्मण्यमुपास्महे प्रणमतां भीतिप्रणाशोद्यतम्।।[२६]

अर्थात् जिनके शरीर की कान्ति सिन्दूर की भाँति लाल वर्ण की है तथा जिनका मुख चन्द्रमा के समान आह्लादक है, जिनका श्रीविग्रह केयूर हार आदि दिव्य आरभरणों से अलङ्कृत है तथा जो स्वर्गीय सुख को प्रदान करने वाले हैं, जिनके हाथों में वरदमुद्रा अभयमुद्रा शक्ति और कुक्कुट सुशोभित हो रहे हैं, जिनका वस्त्र रक्तवर्ण का है तथा जो प्रणाम करने वालों के भय को दूर करने में उद्यत हैं, उन भगवान् कार्तिकेय का हम उपासना–वन्दना करते हैं।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में सुब्रह्मण्य के विविधरूप निर्दिष्ट हैं—

षण्मुखो वैकवक्त्रो वा द्वादशाक्षभुजोगुह:।
चतुर्बाहुर्द्विवाहुर्वा रक्ताकल्पविभूषित:।
युवा कुमारो बालो वा स्कन्दो ध्येय: स्मिताननः।
पाणिभ्यां पङ्कजेऽधस्तादूर्ध्वं शक्तिं च कुक्कुटम्।
विभ्रचतुर्भुज: स्कन्दो ध्येय: पद्मासने स्थित:।

---

२५. *Elements of Hindu Icononography* by T.A. Gopinath Rao, Vol. II, Law Printing House, Madras, 1916, p. 415.

२६. *शारदातिलकम्* 13/121.

दक्षिणे पङ्कजं शक्तिं मातुलुङ्गं च वामतः।।
पाशं चतुर्भुजो विभ्रदेकवक्त्रो युवागुहः।
अभयं पङ्कजं शक्तिं दक्षिणे वरतोमरे।
कुलिशं षड्भुजो विभ्रदुपविष्टोऽम्बुजासने।
स्थितोऽपि षण्मुखो ध्येयस्त्वेकवक्त्रोऽथवा भवेत्।।
अभयं शक्तिशूलेषून् कुशलं चाङ्कुशं करैः।
दक्षिणे धारयंस्तद्वत् कटिस्पर्शिवरप्रदम्।।[२७]

गृह में गुह की प्रतिष्ठा कर उपासना करने से श्री आदि की समृद्धि होती है तथा अन्त में सभी सुख भोगकर साधक स्वर्ग को प्राप्त करता है—

नित्यपूजां गुहस्येच्छन् बिम्बं कृत्वा यथाविधि।
स्कन्ददैवत्यमन्त्रैश्च नयनोन्मीलनादिकम्।।
कृता तु कौतुकं बद्ध्वा शतमष्टोत्तरं यजेत्।
तन्मन्त्रेण समावाह्य नित्यं विधिवदर्चयेत्।।
एवं यः कुरुते भक्त्या तस्य पुत्रास्तु नीरुजः।
आयुष्मन्तः श्रिया युक्ताः वर्धन्ते नात्र संशयः।
इह भुक्त्वा महाभोगान् सोऽन्ते स्वर्गमवाप्नुयात्।।[२८]

कालीविलासतन्त्र में कार्तिकेय का ध्यान अधोलिखित है—

सुतप्तकनकप्रेक्षं खड्गपट्टीधरं वरम्।
सोष्णीषमस्तकं देवं मयूरवरवाहनम्।।
ब्रह्माण्डाभ्यन्तरे वीरं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।
ध्यात्वा पाद्यादिकं दत्त्वा दशधा प्रजपयेन्मुखम्।।
शृणु मन्त्रं प्रवक्ष्यामि कार्तिकेयं यथोचितम्।
ह्रीं गुहाय कार्तिकेयाय सेनान्ये स्वाहयान्विता।।
चतुर्दशाक्षरी विद्या कार्तिकेयस्य कीर्तिता।

---

२७. *ईशानगुरुदेवपद्धति* 31/114-119.

२८. *क्रियाधिकार* 15/43-46.

प्रतिमायां हृदि स्थाने दत्त्वाङ्गुष्ठं सुलोचने।
दशधा मन्त्रमुच्चार्य प्राणन्यासस्ततो भवेत्।।[२९]

अंशुमद्भेदागम में सुब्रह्मण्य की मूर्ति का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—

अथ वक्ष्ये विशेषेण षण्मुखस्य तु लक्षणम्।
पश्चतालोत्तमेनैव स्कन्दं कुर्य्याद्विशेषतः।।
द्विभुजं वा चतुर्हस्तं षड्भुजं भानुहस्तकम्।
शक्तिर्बाणं च पाशं प्रसारितम्।।
सव्ये वामे तु पिच्छं च खेटकं कुक्कुटं तथा।
धनुर्दण्डं हलं चैव भानुहस्तान्यतोद्धृतम्।।
षड्भुजे त्वभयं खड्गं शक्तिर्दक्षिणपार्श्वके।
खेटकं चाक्षमाला च कुक्कुटं वामहस्तके।।
चर्तुभुजेऽभयं शक्तिर्दक्षिणे तु करद्वयम् (ये?)।
कुक्कुटं चाक्षमाला च वामहस्तोद्धृतं शुभम्।।
द्विभुजे कुक्कुटं वामे शक्तिर्दक्षिणहस्तके।
अत्रानुक्तं तु तत्सर्वमुमास्कन्दोक्तवत्कुरु।।[३०]

कुमारतन्त्र में सुब्रह्मण्य का स्वरूप अधोलिखित रूप में वर्णित है—

सिन्दूरारुणमिन्दूकान्तिवदनं केयूरहारादिभि–
र्दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं स्वर्गादिसौख्यप्रदम्।
अम्भोजाभयशक्तिकुक्कुटधरं रक्ताङ्गरागांशुकं
सुब्रह्मण्यमुपास्महे प्रणमतां भीतिप्रणशोद्यतम्।।

अन्यच्च—

एकवक्त्रं द्विदोर्दण्डं कटिबद्धाभयान्वितम्।
तरुणारुणसंकाशं सुब्रह्मण्यमुपास्महे।।[३१]

---

२९. *कालीविलासतन्त्रे* अष्टदशपटले उद्धृत *प्राणतोषिण्याम्* भाग 2 काम्यकाण्डे पञ्चमपरिच्छेदे, पृ. 157.

३०. *अंशुमद्भेदागमे* एकोनपञ्चाशपटले।

३१. *कुमारतन्त्रागमे* द्वितीयपटले।

गजवाहन—

एकाननं द्विनयनं वरकुक्कुटौ च
वामद्वये निशितशक्त्यभयद्वयं च।
बिभ्रणमीश्वरसुतं तनपायुताभं
नित्यं नमामि गजवाहनमिष्टसिद्ध्यै।।[३२]

शरवणभव:

शक्तिं घण्टां ध्वजसरसिजे कुक्कुटं पाशदण्डौ
टङ्कं बाणं वरदमभयं कार्मुकं चोद्वहन्तम्।
पीतं सौम्यं द्विदशनयनं देवसङ्घैरुपास्यं
सद्भिः पूज्यं शरवणभवं षण्मुखं भवयामि।।[३३]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि विश्व व्यापार के अवयवी परम पुरुष की अवधारणा को विग्रह रूप देकर उस निराकार को साकार किया जाता है, क्योंकि अवयवी नित्य वस्तु है। वह स्वत: अवयवों में समाहित होते हुए भी अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। शास्त्र सम्मत साकार विग्रहार्चन से अभ्यदुय तथा नि:श्रेयस की प्राप्ति हो जाती है।

सहायक आचार्य
धर्मागमविभाग
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय
वाराणसी 221005

३२. *कुमारतन्त्रागमे* द्वितीयपटले.

३३. *कुमारतन्त्रागमे* द्वितीयपटले.

आगम एवं पञ्च मकार का वास्तविक स्वरूप

प्रो. चन्द्रकान्त दवे

आगम और तन्त्र दोनों पर्यायवाची पद माने गये हैं। आगम अनादि परम्परा प्राप्त माना गया है। जैसा कि उल्लेख है कि भगवान् शिव ने अपने पाँच मुखों–सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पपुरुष और ईशान द्वारा भगवती पराम्बा पार्वती को तन्त्रों का उपदेश किया। ये तन्त्र श्रीमन्नारायण भगवान् वासुदेव को भी मान्य हुए।

आगतं शिवक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतञ्च वासुदेवेन आगमः सम्प्रचक्षते।।

तदनुसार ही पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व—ये पाँच आम्नाय तन्त्रों में प्रचलित हुए। कलियुग में आगम मार्ग को अपनाये बिना सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। साथ ही आगम सार्ववर्णिक है जबकि निगम त्रैवर्णिक। उल्लेख है कि वैदिक आचार सत्ययुग, स्मृत्युपदिष्ट आचार त्रेतायुग, तथा पौराणिक आचार द्वापर युग तथा आगमोक्त आचार कलियुग में मान्य है। जैसाकि कहा गया है—

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तं कलावागमसम्भवः।।

यदि शब्द व्युत्पत्ति पर विचार करें तो आगम शब्द 'आ'उपसर्गपूर्वक गति अर्थ वाले गम् धातु से बनता है। आ उपसर्ग का अर्थ चारों तरफ अर्थात् सर्वत्र व्यापक रूप से होता है। तात्पर्य यह हुआ कि समग्र ब्रह्माण्ड में व्यापकता प्रदान करने वाला या व्यापक गति प्रदान करने वाला ज्ञान ही आगम है। जैसाकि शास्त्रों में आया है। निश्चित रूप से तत्त्व की ओर ले जाने वाला निगम तथा आप्त वचन से आविर्भूत तत्त्वार्थ विशेष का संवेदी आगम होता है। वैसे उल्लेख आता है कि **'आङ्भावस्तु समन्ताच्च गम्यतेत्वागमो मतः'** अर्थात् सर्वतोमुखी अध्यात्मज्ञान जो सर्वतः प्रसृत हो चतुर्दिक् व्याप्त हो रहा हो। वही आगम। गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी होते हैं। यह पिङ्गल सिद्धान्त है। शैवमत के अनुसार आ=पाश, ग=पशु, और म=पति है। अथवा आ=शिवज्ञान, ग=मोक्ष और म=पति हुआ। यह तन्त्र अर्थात् शास्त्र कहलाता है, क्योंकि इसके द्वारा ही सब कुछ शासित होता है, सुरक्षित होता है, स्थिर होता है। प्राणि मात्र की रक्षा या 'त्राण' करने के कारण भी यह तन्त्र कहलाता है। जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार हो वह शास्त्र तन्त्र कहलाता है—'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्' तत्त्व मन्त्र देवता, साधना विधि, फल आदि सभी का वर्णन जिसमें है तथा जो साधक की

रक्षा भी करे वह शास्त्र या विद्या अथवा ज्ञान तन्त्र कहलाता है। यह शब्द विस्तार अर्थ वाले तन् धातु से औणादिक ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर बनता है। (सर्वधातुभ्य: ष्ट्रन्) जैसाकि उल्लेख है—

तनोति विपुलनर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।।

तन्त्रों के अनेक भेद हैं। मुख्यत: 64 माने गये हैं। उनमें भी शैव, शाक्त फिर वैष्णव बौद्ध और जैन भेद से बहुसंख्यक हो जाते हैं। माना यह गया है कि सभी का आविष्कार भगवान् शिव के द्वारा ही हुआ है। जैसा कि उल्लेख है—

बौद्धोक्तमुपतन्त्राणि कापिलोक्तानि यानि च।
गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देव: सदाशिव:।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यै स्वतन्त्रं समवतारयत्।।

कहा जाता है कि ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शती में शरहा नामक बौद्ध भिक्षु ने सिद्ध परम्परा के आचार्यों से कौलाचार परम्परा की शिक्षा प्राप्त कर उन उपासना पद्धतियों का बौद्ध श्रमणों में प्रचार किया है और उसकी वज्रयान शाखा को पल्लवित पुष्पित किया। इसी शरहा की परम्परा में गुरु पद्मसम्भव हुए। वे परम सिद्ध थे। अनेक प्रकार की व्यावहारिक सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त थी। तिब्बत के धर्म गुरुओं को परास्त कर वहाँ सिद्ध साधना की तान्त्रिक पद्धतियों को प्रचलित किया। आगे चलकर वही लामा धर्म हो गया। परन्तु वज्रयानियों ने तथा वैष्णवों ने भी सिद्ध परम्परा के परम शुद्ध रूप को यथावत् रूप में स्थिर न रखकर शनै: शनै: उसके विकृतरूप को ही प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थों की रचना की। सिद्ध परम्परा में कतिपय साधना पद्धतियाँ रहस्यमयी है, जिन्हें प्रकट करना निषिद्ध माना गया, क्योंकि उसके रहस्य को समझने में असमर्थता के कारण साधारण साधक पथभ्रष्ट हो सकते हैं। परन्तु वज्रयानियों चीनाचार के ग्रन्थों में उन अप्रकटनीय रहस्यमयी साधनाओं का स्पष्ट वर्णन कालान्तर में होने लगा और उनकी तुलना में शाक्त सम्प्रदाय के साधक आचार्य भी वही करने लगे। फलस्वरूप पञ्च मकार साधना या वामाचार का प्रचलन हुआ। यद्यपि वर्तमान में दक्षिण मार्ग या दक्षिणाचार साधना पद्धति को पञ्चमकार रहित शुद्ध विद्या साधना के रूप में समझा जाता है। किन्तु आचार्य अभिनव गुप्त ने 'दक्षिणं रौद्र कर्माढ्यम्' कहकर कापालिक पाशुपत साधकों के आचार, श्मशान चिता भस्मालोप, कपालधारण तथा मारण मोहन, वशीकरण उच्चाटन आदि घोर षट् कर्म साधना की ओर संकेत किया है। वाम का अर्थ विपरीत होता है। प्राय: वही अर्थ सब लोग लेते हैं। किन्तु वस्तुत: वाम का अर्थ सुन्दर मनोरम या हृद्य, मन को अच्छा लगने वाला होता है। मांस, मत्स्य, मद्य, मुद्रा और मैथुन ये पञ्चमकार सभी के मन को प्राय: अच्छे लगते हैं। आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार वामाचार से व्यावहारिक सिद्धियाँ अत्यधिक मात्रा में प्राप्त होती हैं। **वामं सिद्धिसमाकुलम्।** फलस्वरूप साधक उसी में

लिप्त हो जाता है और आध्यात्मिक मार्ग से भटक जाता है तथा अन्त में उन भौतिक सिद्धियों के उपयोग और उपभोग से पथभ्रष्ट होकर पतित हो जाता है।

भैरवागम के अनुसार, दक्षिणाचार से वाम उत्तम तथा वाम से सिद्धान्त मार्ग उत्तम तथा सिद्धान्त से भी कौल मार्ग उत्तम है। परन्तु तन्त्रों की अनेक रूपता के कारण श्रेष्ठ गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग का ही आचरण करना चाहिए।

दक्षिणादुत्तमं वामं वामात्सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं न हि।।
तन्त्राणां बहुरूपत्वात्कर्तव्यं गुरुसम्मतम्।

कुलाचार को श्रेष्ठ बतलाया गया है; किन्तु वाम के समान कौल मार्ग में भी पञ्च मकार का प्रयोग है। यद्यपि यह गुप्त रूप से कुलचक्र के अन्दर ही चक्रयाग के अवसर पर किया जाता है। यहाँ आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि विषय भोग के आनन्द की दृष्टि से पञ्चमकार का प्रयोग करने वाले तथा विना पञ्चमकार के कुल चक्रयाग करने वाले दोनों ही प्रकार के साधक नरकगामी होते हैं।

आनन्दकृत्त्रिमाहाराः तद्वर्जं चक्रयाजकाः।
द्वयोऽपि नरकं यान्ति– ...।

तथापि आचार्य अभिनव गुप्त इस प्रकार की साधना का रहस्य समझते हैं। तदनुसार अधिकारी भेद से तथा व्यक्ति की मनन शक्ति की भिन्नता के कारण शास्त्रों में भेद किया गया है—**चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने।** भोग और मोक्ष ये दो जीवन के मुख्य उद्देश्य हैं। जिसमें भोग की भावना प्रबल होती है, वह मन से मुक्ति की साधना नहीं कर सकता। क्योंकि उसका मन भोग में लिप्त रहेगा बाह्य रूप से भले ही वह विरक्त हो जाये ऐसे व्यक्तियों का भोग से विरक्ति उत्पन्न होनी चाहिए और विरक्ति तभी होगी जब भोग के रहस्य को उसके अन्दर डूबकर जानेगा। उसकी नश्वरता और अल्पकाल स्थायिता को समझेगा। इसी हेतु भोग में भी भक्ति भाव आ जाये इसके लिए देव देवी भाव को हृदय से स्थापित करते हुए '**पूजा ते विषयोपभोगरचना।**' की भावनानुसार साधना करते हुए भोग के भौतिक भाव को भुलाकर उसके अध्यात्म और अधिदैव भाव की ओर साधक बढ़ता रहे। यही भाव इस साधना का है। क्योंकि कहा गया है कि '**इन्द्रियाणि हयान्याहुः!**' इन्द्रियाँ घोड़ों के समान हैं और इन घोड़ों का अभ्यस्त मार्ग विषयों की ओर का मार्ग ही हैं। यदि बलपूर्वक उनको उस मार्ग से हटाकर एकाएक सर्वथा अपरिचित पूर्ण वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि के मार्ग पर चलाने की चेष्टा की जायेगी, तो वे बिगड़कर अनेक उलटे सीधे मार्गों पर जायेंगी क्योंकि उनका चालक मन है। जैसाकि कहा है—

स्वं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरुन्धते।
तेषां तत्खण्डनाऽयोगाद् धावत्युत्पथकोटिभिः।।

बलपूर्वक वैराग्य में मन को लगाने का विपरीत प्रभाव हो सकता है। अतः मर्यादित विषयोपभोग करते हुए मन्त्र, जप, पूजा योग आदि का अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास, साधक आत्मानुभूति या आत्मप्रत्यभिज्ञान की ओर शनैः शनैः विषयानन्द से विरक्ति और स्वाभाविक अरुचि उत्पन्न होने के कारण ले जा सकता है। इस प्रकार के वैराग्य को अनादर विरक्ति कहा गया है।

अनादरविरक्त्यैव गलन्तीन्द्रियवृत्तयः।
यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद्विकुर्वते।।

कारण यह है कि सत्, चित् व आनन्द—ये तीन ब्रह्म के स्वरूप हैं, जो वस्तुतः एक ही है। जहाँ जहाँ भी यत्किञ्चित् आनन्द की मात्रा है वह ब्रह्म का ही रूप है, भले ही वह पूर्ण प्रस्फुटित न हो। पूर्ण ब्रह्मानन्द और विषयानन्द दोनों में भेद अनन्तता और क्षणिकत्व का है और आनन्द जिसके निजानन्द निरानन्द जगदानन्द आदि छः भेद वर्णित हैं। ब्रह्म का प्रथम प्रारम्भिक स्वरूप उस आनन्द की अनुभूति करते-करते उसके बाह्य रूप विषयों का विलापन होने पर ब्रह्म के चित्स्वरूप की अनुभूति होती है। तब आनन्द चिद्रूपता में परिवर्तित हो जाता है, और वह चिद्रूपता साधना करते-करते सद् की स्थिति में या सन्मात्रा रूप में प्रतिष्ठित होती है। यही है असत् से सत् की ओर यात्रा—'**असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्युर्माऽमृतं गमय**' का रहस्य बाह्य विषयानन्द ही तम है, मृत्यु है, पर उसकी अनुभूति करनी पड़ती है। उससे गुजरे बिना उसके प्रति अनादर, अनिच्छा, अस्थायित्व नश्वरता का भाव नहीं उभर सकता क्योंकि विषय आपातरमणीय तो होते ही हैं। पञ्चमकार की साधना के द्वारा विषयानन्द की प्रथम अवस्था को पार करते हुए आनन्द की अन्तिम अवस्था जिसे जगदानन्द भी कहा गया है, की अनुभूति होने पर परिमित से अपरिमित में ससीम से असीम में प्रवेश होता है। यह जगदानन्द परमेश्वर का वह स्वभाव है जिसके कारण वह सृष्टि, स्थिति, संहार की लीला करता रहता है। क्षणिक विषयानन्द की पराकाष्ठा पर पहुँच जाने पर मिथुन या युगल, भैरव भैरवी रूपता का अनुभव करते हुए जगदानन्द में चिरलीनता पर समावेश और स्थैर्य की ओर बढ़ता रहता है। इसी में परमेश्वर का विसर्ग शक्ति (सृजन शक्ति) और जीव की विसर्ग शक्ति हैं, दोनों का प्रकार एक ही है और एक के द्वारा अन्य को पाया जा सकता है। बशर्ते कि ध्यान उसी अपरिमित असीम की ओर केन्द्रित रहे। जैसाकि उपनिषद् कहता है कि स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी एक भाव के दो रूप हैं। परमेश्वर एक था और लीला के लिए उसने उसी पुरुष के दो भाग स्त्री-पुरुष के रूप में किये—'**स एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। सहैतावानास। यथा स्त्री पुमांसौ परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाऽभवताम्।**' एक से दो और दो से रमण के द्वारा ऐक्य सम्पादन। यही तो रहस्य है। इस पद्धति में जो विकार

या विकृतियाँ वे वज्रयानियों के कारण आयी हैं। इस प्रकार की रहस्यमयी साधनों को न तो अधिक गुप्त रखना चाहिए न ही अधिक प्रकट करना चाहिए। यही कारण है कि शाक्ततन्त्रों में इसे प्रकट करते हुए भी बहुत कुछ गुप्त रखा गया है। अत: यदि पुस्तक पढ़कर कोई इसमें बिना गुरु से रहस्य प्राप्त किये ही प्रवृत्त होगा तो वह पतन की ओर ही अग्रसर होगा। इसीलिए सिद्धान्त है कि—**नातिरहस्यमेकत्र ख्याप्यं न चाप्यत्यन्ततो गोप्यम्।**

उपर्युक्त साधना में भाव ही प्रधान होता है। यही कारण है कि **देवो भूत्वा देवं यजेत्, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति** जैसे वाक्य उपदिष्ट हैं। बाह्य से अन्त: की ओर जाना, अन्तर्मुख हो ब्रह्म रूपता की सत्यानुभूति हुए बिना मोक्ष कहाँ। यही तो रहस्य है कि मन्दिरों की बाह्य भित्ति पर पञ्चम मकार के चित्र हैं किन्तु अन्दर कहीं नहीं। यह बाह्य जगत् का चित्रण है। जो अस्थायी और नश्वर है। इसका अनुभव करते हुए इसे छोड़कर मन्दिर के अन्दर जाना है। हृद्गुहा दहराकाश में शान्त ब्रह्म के साथ आत्मा की एकाकारता स्थापित करना है। अपने वास्तविक शिव रूप को पाना है। अत: मन्दिर के अन्दर की ओर बाह्य आवरणों को छोड़ते हुए जैसे-जैसे प्रवेश करते हैं आनन्द और शान्ति की मात्रा बढ़ती जाती है। बाह्य भित्ति में ही लिप्त होकर चिपक गये तो वहीं पतन अवश्यम्भावी है। क्योंकि यह बाह्यानन्द, अस्थायी, असत् तम और मृत्युरूप है। बाहर से भीतर जाना है। बाहरी चकाचौंध के रहस्य को जानकर अनादर विरक्ति के भाव को पाकर ही अन्त: सत्य का साक्षात् होता है। यही रहस्य मन्दिरों के भित्ति चित्रों का है। तान्त्रिकों द्वारा यह चित्रण कराया गया प्रतीत होता है। ऊपर विसर्ग शक्ति के बारे में कहा गया है। वीर्यत्याग उसी दृष्टि से प्रयुक्त है। परन्तु उसका ईश्वरीय रहस्य शक्ति प्रवेश हैं। प्रतिबिम्ब रूप से शक्ति में प्रवेश करना ही आगम प्रक्रिया का रहस्यमय सङ्केत है। जैसाकि उल्लेख है—कालवृत्ति से त्रिगुणात्मिका प्रकृति में भगवान् सदाशिव अधोक्षज ने सृष्टि की दृष्टि से अपने पुरुष स्वरूप से वीर्य का आधान किया अर्थात् प्रति बिम्बरूप से शक्ति में प्रवेश कर एकाकारता स्थापित करते हुए सृष्टि में प्रवृत्त हुए।

कालवृत्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षज:।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्।।

तान्त्रिक साधना का मार्ग अति कठिन है और विशेषत: वाम मार्ग। निरुक्त में वाम शब्द के अनेन, अनेद्य, अनवद्य, अनभिशस्त उक्थ्य सुनीथ, पाक, वाम, वयुन इस प्रकार दश पर्याय आये हैं। और इसका वास्तविक तात्पर्य प्राशस्त्य ही है। वाम साधना प्रशस्त मनोज्ञ साधना है। परन्तु उसका अधिकारी जितेन्द्रिय, निर्लोभी, परनिन्दा में मौनव्रती परस्त्री सुरत से दूर रहने वाला व्यक्ति ही हो सकता है। अतएव कहा गया है—

वामो मार्ग: परम गहनो योगिनामप्यगम्य:।

यह अत्यन्त रहस्यमय गम्भीर मार्ग है। सामान्य योगी भी इसमें प्रवेश नहीं कर पाता। अतएव अधिकारीपरक वचन निम्न रूप से *मेरूतन्त्र* में आया है—

परद्रव्येषु योन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकम्।
परापवादे यो मूक: सर्वदा विजितेन्द्रिय:।।
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता।

इसे गुप्त रखने का भी निर्देश भगवान् शिव ने स्वयं ही तन्त्रशास्त्रों में दिया है। यही कारण है कि ग्रन्थों में अपूर्ण वर्णन ही प्राप्त होता है और वह सतही ऊपरी ऊपरी वर्णन है। रहस्य को गुरुगम्य ही रखा गया है। इसे प्रकट करने पर सिद्धि नष्ट हो जाती है।

प्रकाशात्सिद्धिहानि: स्यात् वामाचारगतौ प्रिये।
अतो वामपथं देवि गोपयेन्मातृजारवत्।।

त्रिगुणात्मक स्वभाव के कारण त्रिविध साधक निम्न प्रकार से माने गये हैं।

(1) तमोगुण प्रधान प्रकृति साधक — पशुभाव की साधना
(2) रज: प्रधान प्रकृति साधक — वीरभाव की साधना
(3) सत्त्व प्रधान प्रकृति साधक — दिव्यभाव की साधना।

आदौ भावं पशुं कृत्वा पश्चात्कुर्यादवश्यकम्।
वीरभावो महाभाव: सर्वभावोत्तमोत्तम:।।
तत्पश्चाच्छ्रेयसां स्थानं दिव्यं भावो महाफल:।

यह भावोपासना का क्रम है। कहा भी है—

दिव्यभावयुतानां तु तत्त्वज्ञानं सदा भवेत्।

दिव्यभाव वालों को सदा तत्त्व ज्ञान होता रहता है।

यह साधना भाव प्रधान है। जैसाकि ऊपर वर्णन है, देव भाव या ब्रह्म भाव में प्रवेश ही मुख्य उद्देश्य है और यदि भाव में विकृति आ जाये तो पतन, और भाव शुद्ध सात्त्विक रहे तो सब कुछ प्राप्तव्य प्राप्त होता है जैसाकि कहा गया है—

भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावावलम्बनम्।। — *रुद्रयामल*
बहुजापात् तथा होमात्कायक्लेशादिविस्तरै:।
न भावेन विना देवो यन्त्रमन्त्रफलप्रद:।। — *भावचूड़ामणि*

चाहे कितना ही जप, होम, तप आदि किया जाये यदि वह भावरहित है तो देवता यन्त्र मन्त्र सब फलहीन हो जायेंगे। यह साधना मार्ग एक प्रकार का भावना मार्ग है। द्वितीय प्रकार अधिक कठिन है तथा बाह्य

क्रिया पर भी कतिपय अंशों में निर्भर है। वह है कुल कुण्डलिनी का ऊर्ध्वसञ्चालन। इन सबकी विशेष चर्चा विशेष विस्तार साध्य है। अत: यहाँ नहीं की जा रही है। दो शब्द कुल या कौल के तात्पर्य विषयक शास्त्रोक्त हैं, उन का उल्लेख करते हुए अनन्तर पञ्चमकार साधना के आध्यात्मिक रहस्य पर प्रकाश अवश्य डालेंगे। कहा गया है कि कुल ही शक्ति है अकुल शिव हैं और कुल तथा अकुल के सम्बन्ध को कौल कहा गया है—

कुलं शक्तिरितिप्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलाऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते।

अध्यात्म दृष्टि से कुल शब्द में 'कु' का अर्थ पृथिवी तत्त्व होता है और उस पृथ्वी तत्त्व का जहाँ लय हो वह कुल अर्थात् षट् चक्रों में एक आधार चक्र और उसके सम्बन्ध से लक्षणया सुषुम्ना मार्ग अर्थ हुआ। और प्राण का अथवा जीव के सुषुम्ना प्रवेश को संगम कहते हैं। इस योगविद्या या तन्त्र पद्धति को कुलाङ्गना कहा गया है।

कुलाङ्गनैषाप्यथ राजवीथिः प्रविश्य सङ्केतगृहान्तरेषु।
विश्रम्य विश्रम्य वरेण पुंसा संगम्य संगम्य रसं प्रसूते।।

आगम शास्त्रों में चक्रसङ्केत, मन्त्रसङ्केत और पूजासङ्केत इस प्रकार तीन सङ्केत माने गये हैं जिनका इस पद्य में सङ्केत है। वैसे कुल शब्द के अनेक अर्थ पातिव्रत्यादि गुणों से युक्त वंश, जनपद गोत्र, घर, सजातीय पुरुष और शरीर भी कहे गये हैं। योगतन्त्र सिद्धान्तानुसार—**अधः स्थितं रक्तं सहस्रदलकमलमपि कुलं, तत्कर्णिकायां कुलदेवि दलेषु कुलशक्तयः सन्तीति** ***स्वच्छन्दतन्त्रे।*** ब्रह्मरन्ध्र (शिर:कपाल) के नीचे लालरंग का हजार पंखुड़ियों वाला कमल ही कुल है। उसकी कर्णिका के ऊपर कुलदेविदलों में कुल शक्तियाँ रहती हैं। शिवशक्ति के सामरस्य को ऊपर कौल शब्द से कहा गया है। कुल से युक्त देवी कौलिनी शक्तियाँ भी, अनेक फल प्रदान करने वाले जिनके तन्त्र हैं। वे महातन्त्रा, जिनके लिए विविध मन्त्र हैं, वे महामन्त्रा, तथा जिनकी पूजा यन्त्रों के रूप में होती है, वे महायन्त्रा कहलाती है।

पञ्चमी पद भी शक्ति के विषय में आया है। उसका तात्पर्य पञ्चदेवों में पञ्चम शिव है। अथवा शिव का पांचवाँ स्वरूप उसकी शक्ति पञ्चमी '**पञ्चमस्य सदाशिवस्य स्त्री पञ्चमी। तद्रूपा वा।**' कल्पसूत्र का उल्लेख है कि आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है और वह शरीर में स्थित है, उसी आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए पञ्चमकार हैं और उनके पूजा विधान भी हैं। इस दृष्टि से पञ्चमी पद पाँचों मकारों के समाहार को भी कहा गया। पञ्चमानां मकाराणां समाहारः पञ्चमी वा।

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यस्थितम्।
तस्याभिव्यञ्जका पञ्च मकारास्तैरथार्चनम्।।

मकारों में प्रथम के विषय में उल्लेख है कि योगसाधना द्वारा परब्रह्म के साक्षात्कारात्मक ज्ञान में एक मादकता है। साक्षात्कार होने पर साधक प्रमत्त सम अवस्था को प्राप्त करता है। अत: वही मद्य है।

यदुक्तं परमं ब्रह्मनिर्विकारं निरञ्जनम्।
तस्मिन्प्रमदनज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम्।।

व्योमपङ्कजनिष्यन्दसुधापानरतो भवेत्।
मद्यपानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिन:।।

और भी—

ब्रह्मस्थानसरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा,
या शुभ्रांशुकलासुधा विगलिता सा पानयोग्या सुरा।

सा हाला पिबतामनर्थफलहा श्रीदिव्यभावाश्रिता,
यां पीत्वा मुनय: परार्थकुशला निर्वाणमुक्तिं गता:।।

ब्रह्मरन्ध्र से जो चन्द्रामृत प्रवाहित होता है, जिसके पान के लिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास सर्वविदित है, वही मद्य है। मांस—मांस शब्द का अर्थ रसना या जिह्वा उसके द्वारा वाक्य पद या शब्दों का जो भक्षण करे अर्थात् मौन धारण करे ऐसा वाक् संयमी मौनव्रती योगी मांस साधक है। अथवा सभी कर्मों को मुझ ब्रह्म के प्रति (माम्) समर्पित(स) वही सर्वकर्म समर्पण मांस शब्द का अर्थ हुआ।

मा शब्दरसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रिये।
सदा यो भक्षयेद्देवि! स एव मांससाधक:।।

मां सनोति हि यत्कर्म तन्मांसपरिकीर्तितम्।
न च कामप्रतीकं तु योगिभिर्मांसमुच्यते।।

यही भाव कुछ भिन्न रूप में अन्यत्र—

पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्।
परे लये नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते।।

पुण्य पाप ये दो पशु हैं, उन्हें ज्ञान की तलवार से मार कर मन को ब्रह्म में लीन करने वाला मांसाशी है।

कामक्रोधसुलोभमोहपशुकांश्छित्वा विवेकासिना,
मांसं निर्विषयं परात्मसुखदं खादन्ति तेषां बुधा:।।

ते विज्ञानपरा धरातलसुरास्ते पुण्यवन्तो नरा:
नाश्नीयात्पशुमांसामात्मविमतेर्हिंसापरं सज्जन:।।

मत्स्य—इडा पिङ्गला नाड़ियों के द्वारा प्रवहमान श्वास और प्रश्वास ही दो मत्स्य हैं, प्राणायाम के द्वारा इनको नियन्त्रित कर केवल कुम्भक की स्थिति में रहने वाला योगी मत्स्य साधक है। अथवा सभी मेरी तरह सुख दु:ख के समान भागी हैं। सभी के सुख दु:ख को समान समझना चाहिए। यह सात्त्विक ज्ञान मत्स्य है। मन सहित इन्द्रियाँ मीन हैं उन्हें वश में कर निर्जीव बनाने वाला मीनाशी है।

मानसादीन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत्।
स मीनाशी भवेद्देवि! इतरे प्राणिहिंसका:।।

संमयपूर्वक मन सहित इन्द्रियों को आत्मतत्पर करे।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरत: सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधक:।।
मत्समानं सर्वमूले सुखदु:खमिदं प्रिये।
इति यत्सात्त्विकं ज्ञानं तन्मत्स्य: परिकीर्तित:।।

अन्यत्र दम्भ अहंकार आदि को मीन मानकर उनके नियन्त्रणपरक तात्पर्य निम्न पद्य में व्यक्त किया गया—

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद व मात्सर्य—ये छ: मत्स्य हैं।

अहंकारो दम्भो मदपिशुनता मत्सरद्विष:,
षडेतान्मीनान् वै विषयहरजालेन विधृतान्।
पचन् सद्विद्याऽग्नौ नियमितकृतिर्धीवरवृति:,
सदा खादेत्सर्वान् न च जलचराणां तु पिशितम्।।

मुद्रा

उपासना तथा अर्चना प्रक्रिया में अनेकविध मुद्राओं का वर्णन शास्त्रों में है। वे सब दोनों हाथों से रचित विभिन्न प्रकार की आकृतियों का प्रदर्शन है। उनमें मुख्य मुद्राएँ पाँच प्रकार की हैं—(1) आवाहनी, (2) स्थापनी, (3) सन्निधापनी, (4) संबोधिनी, (5) सम्मुखीकरणी। मुद्रासाधक का स्वरूप सहस्र दलमहापद्म में मुद्रित कर्णिका के अन्दर पारद की तरह आत्मा का वास है। कोटि सूर्यों के समान उसका तेज है। साथ ही कोटिचन्द्रों के समान शीतल भी। यह अत्यधिक मनोरम लुभावन परमतत्व कुण्डलिनी शक्ति समन्वित है। यह साक्षात्कारात्मक ज्ञान जो योगी साधना से प्राप्त करे, वही मुद्रा साधक है।

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुद्रितश्चरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि! केवल: पारदोपम:।।
सूर्यकोटिप्रतीकाश:, चन्द्रकोटिसुशीतल:।
अतीव कमनीयश्च महाकुण्डलिनीयुत:।।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते।।

अथवा असत्सङ्ग का मुद्रण या दबा देना ही मुद्रा है—

सत्सङ्गेन भवेन्मुक्तिः रसत्सङ्गेषु बन्धनम्।
असत्सङ्ग मुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता।।

अथवा आशा तृष्ण आदि आठ कष्टकारी मुद्रा मानी गयी हैं।

मुद्रण योग्य यानी दबाने काबिल हैं। अतः इन्हें दबाकर नष्ट करदे वही मुद्रा साधक है।

आशा तृष्णा जुगप्सा भयविशदघृणा मानलज्जाप्रकोपाः।
ब्रह्माग्नावष्टमुद्राः परसुकृतिजनः पाच्यमानाः समन्तात्।।

नित्यं सम्भक्षयेत्तानवहितमनसा दिव्यभावानुरागी।
योऽसौ ब्रह्माण्डभाण्डे पशुहतिविमुखो रुद्रतुल्यो महात्मा।।

मैथुन—रकार या रेफ कुङ्कुम वर्ण के कुण्ड में स्थित है। मकार बिन्दु रूप है और महायोनि में स्थित है। अकार रूप हंस पर आरूढ़ होने पर उन दोनों की एकता होती है। तभी महान् आनन्दकारक ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। यही मैथुन है। अथवा प्रत्येक शरीरधारी के शरीर में कुल कुण्डलिनी शक्ति है। उसका शिव (सहस्रारस्थ) के साथ समागम ही मैथुन है।

रेफस्तु कुङ्कुमाभासः कुण्डमध्ये व्यवस्थितः।
मकारश्च बिन्दुरूपः महायोनौ स्थितः प्रिये।।

अकारहंसमारूह्य एकता च यदा भवेत्।
तदा जातो महानन्दो ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्।।

कुलकुण्डलिनी शक्तिर्देहिनी देहधारिणी।
तया शिवेन संयोगो मैथुनं परिकीर्तितम्।।

अथवा सुषुम्ना जो सूक्ष्म नाड़ी है वही सुन्दर नारी है और चन्द्र सूर्य योग में उसका सहस्रार परम पद से योग होकर शिवशक्त्यैक्यानुभूति ही मैथुन है। अतः निरन्तर सुषुम्ना में रमण करना चाहिए।

या नाड़ी सूक्ष्मरूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्ना,
या कान्ता लिङ्गनार्हा, न मनुजरमणी सुन्दरी वारयोषित्।

कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे युगपवनगते मैथुनं नैव योनौ,
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमय भवने तां परिष्वज्य नित्यम्।।

वस्तुतः यह कुलकुण्डलिनी शक्ति ही योगीजन प्रापणीय है, और यही तन्त्र शक्ति के रूप में कही गयी है—

तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता।
तन्त्रेशा तन्त्रवित्तन्त्रसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी।।

इसी कारण तन्त्र शक्ति प्राप्ति का मार्ग माना गया है। तन्त्र यानी मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त कुल कुण्डलिनी विस्तार। अथवा तत्तत् तन्त्र शास्त्रों में विद्यानुसार पूजनीय महाशक्ति भी तन्त्रेशी कही जा सकती है।

वैसे विचार किया जाये तो भगवान् शिव ने सात्त्विक राजस तामस तीन प्रकार के तन्त्रों का अधिकारी भेद से आविर्भाव किया। और इनमें भी प्रत्येक के पाँच पाँच भेद हैं। यहाँ वाम का सन्दर्भ है अत: वाम के पाँच भेद—कौलिक, वाम, चीन, सिद्धान्ती और शाबर हैं।

कौलिकोऽङ्गुष्ठतां प्राप्त: वाम: स्यात्तर्जनी सम:।
चीन: क्रमो मध्यम: स्यात्सिद्धान्ती योऽवरो भवेत्।।

कनिष्ठ: शाबरो मार्ग: इति वामस्तु पञ्चधा।।

कुल यहाँ गोत्र अर्थ में हैं। उसके भी दक्ष वाम दो भेद हैं।

कुलं गोत्रमिति ख्यातं तच्च शक्ति शिवोद्भवम्।
यो न मोक्षमिति ज्ञानं कौलिक: परिकीर्तित:।।

दक्षवामक्रियायुक्त: कौलश्चोभयरूपत:।

चीन के भी दो भेद कहे गये हैं—

निष्कल: सकलश्चेति चीनाचारो द्विधामत:।
निष्कलो ब्राह्मणानाञ्च सकलो बुद्धगोचर:।।

ब्राह्मणों का निष्कल चीनाचार तथा सकल चीनाचार बुद्धमतानुयायियों का है। ऊपर कहा गया है कि शिव शक्ति में अभेद मानने वाला कौल है। वैसे कौलिक के भी उत्तम मध्यम और कनिष्ठ भेद से भी तीन भेद किये गये हैं, कौलिक आचार में, प्रवञ्चना, असत्य, अगम्यागमन आदि निषिद्ध हैं।

अगम्यागमनञ्चैव धूर्तमुन्मत्तवञ्चकम्।
अनृतं पापगोष्ठीं च वर्जयेत् कौलिकोत्तम:।।

वस्तुत: तान्त्रिक साधना में स्त्री को शक्ति का प्रतीक माना गया है और विना स्त्री के यह साधना सिद्धि दायक नहीं मानी गयी। यहाँ तक कहा गया है कि शक्ति सम्पन्न होने के कारण ही शिव शिव हैं। अन्यथा शव ही है। इस पद में इकार शक्ति वाचक है और इसीलिए शिव शब्द दोनों की एकरूपता का वाचक है। एक अंग्रेजी लेखक ने तान्त्रिकों की धारणा को हू-ब-हू निम्नप्रकार से व्यक्त किया है—

The female is the primary and original Sex: originally and normally all life entres about the female. The male not, necessary to the scheme of life: was developed under the operation of the principle of advantage to secure organic progress through the crossing of strains: तान्त्रिक समुदाय में भी शक्ति या स्त्री को ही मूल माना गया है। सृष्टि का मूल शक्ति ही तो है। *दुर्गा सप्तशती* में कहा गया है—**स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।** अर्थात् जगत् में जो कुछ भी है वह स्त्री रूप ही है, अन्यथा निर्जीव है। भगवती शक्ति को योनि रूपा कहा गया है। इसी योनि रूप को अन्य तन्त्र ग्रन्थों में त्रिकोण या कामकला भी कहा गया है। साथ ही योनिरूपा भगवती का सहस्रार से मूलाधार तक (अवरोह क्रम) तथा मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त योनि बीज 'ऐं' का जप करते हुए ध्यान करना ही योनिमुद्रा मानी गयी है। योनि मुद्रा के बिना कोई भी साधन पूजन सफल नहीं हो सकता। यन्त्र में प्रतीक रूप से मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त अधोमुख त्रिकोण और ब्रह्म रन्ध्र से मूलाधार पर्यन्त ऊर्ध्वमुख त्रिकोण इस प्रकार यह षट्कोण बन जाता है। और यह समग्र पिण्ड का लोम विलोमप्रतीक भी।

तात्पर्य यह हुआ कि पिण्ड भी त्रिकोणात्मक और ब्रह्माण्ड के मूल में भी त्रिकोण ही है और जब यह उपर्युक्त षट्कोण बनता है तो मिथुन का प्रतीक भी। यह कैसे होता है, इसका वैज्ञानिक रहस्य है। भारतीय मनीषा की यह सर्वोत्कृष्ट सर्वोच्च उपलब्धि है। यहाँ तक कहा गया है कि स्त्रियाँ सर्वप्रकार से पवित्र होती है—**स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः।।**

यह सृष्टि का प्रतीक है और त्रिकोण या योनि इसका स्वरूप, योनि में बिन्दुपात होते ही उसमें हलचल होकर उस अधोमुख त्रिकोण के ऊपर पुनः एक त्रिकोण और उस पर पुनः। और यह ब्रह्माण्ड का प्रतीक अथवा सृष्टि की व्याख्या तब करने लगता है जब त्रिकोण समुदाय के चारों तरफ पूर्ण गोलाकार रेखा खींची जाकर मण्डल बन जाये। उसमें सभी कुछ है, गति भी, क्रिया भी, ज्ञान भी। कोई भी यन्त्र जो तान्त्रिक साधना में प्रयुक्त हैं इस मूल त्रिकोण जो प्रायः अधोमुख होता है और उसक बीच में बिन्दु के बिना नहीं बनता। इसी से प्रारम्भ होकर षट्कोण, वसुकोण, द्वादशकोण फिर मण्डल सब बनाकर एक ब्रह्माण्ड का आकार जो शिव शक्ति की एकाकार लीला का प्रतीक है; बनता है। योनि का अर्थ सृष्टि का कारण है और इस तथ्य से कोई मनानहीं कर सकता कि यह ऐसा नहीं है। दर्शनों में भी योनि पद का कारण अर्थ में प्रयोग किया गया है। अत एव योनि तन्त्र जगत्कारण योनिरूपा सर्वव्यापिनी भगवती शक्ति की ही प्रतीकोपासना, तथा यदि भाव की शुद्धि हो तो प्रत्यक्ष स्वशक्ति को साथ में रख साधक देव भाव या ब्राह्मी भाव में ओत-प्रोत होते हुए भगवती शक्ति के साथ एकाकारता स्थापित करते हुए साधना करे। यहाँ वासना लेश भी वर्जित है। कहा भी गया है कि—

त्रिकोणकुण्डली मात्रा नित्या श्रीः प्रकृतिः परा।

त्रिकोण में तीन रेखा होती है। वही योनि है।इसकी वामरेखा रक्ताभ ब्रह्मा है। दक्षिण रेखा परश्शतचन्द्र प्रभाभावन विष्णु, आड़ीरेखा रुद्र है। ईश्वर और सदाशिव अर्धमात्रा में है। त्रिकोणान्तर्गत बिन्दु शून्य परम

कुण्डली है। लाल सूर्य को समान बिन्दु का एक बाह्य आवरण उसके अन्दर कोटि चन्द्रसमशून्य का उल्लेख आता है, और यह शून्य ही परब्रह्म शिव और परम कारण भी है। यह त्रिरेखा त्रिलोक, त्रिमूर्ति, त्रिगुण, त्रिवेद और त्रिवर्ण का प्रतीक भी है। इसे बीजत्रितय-शक्तित्रितय लिङ्गत्रितय कहा गया है। **लिङ्गत्रितयमयं त्रिकोणम् कामकलाक्षररूपम्। वैखरी विश्वविग्रहा।** कामकला का नित्य (अक्षर) रूप त्रिकोण है। यह तीन बीज, तीन शक्ति, तीन लिङ्गमय है। और वैखरी वाणी का प्रकट रूप ही जगत् है। इन तीन रेखाओं के नाम वामा, ज्येष्ठा और रौद्री है। इसी त्रिकोण में जो विश्व का मूल आधार है, बिन्दु के प्रवेश होने पर सृष्टि प्रक्रिया यानी विस्तार विलास प्रारम्भ होता है, इसके बारे में *तन्त्रालोक* का उल्लेख है—

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिश्चिणीक्रमम्।।

शून्य में गुप्त त्रिकोण मण्डल है, उसकी संज्ञा भग है। इच्छा, ज्ञान व क्रिया उसके तीन कोण हैं और बीच में चिश्चिणी शक्ति का क्रम यानी स्पन्द है। त्रिकोण के तीन कोण सृष्टि स्थिति एवं संहार के भी प्रतीक हैं। इस प्रकार योनिरूपा भगवती की साधना का विधान अनेक प्रकार से अनेक शाक्त तन्त्रों में वर्णित है। किन्तु ग्रन्थ में देख कर साधन में प्रवृत्त होना विपरीत प्रभाव कर सकता है। यह सिद्ध गुरु और शुद्ध भाव के बिना सम्भव नहीं क्योंकि ग्रन्थों में प्रकट करने योग्य ही प्रकट किया गया है। शेष गोपनीय गुरु गम्य ही रखा गया है और सर्वत्र आपातत: प्रतीयमान तात्पर्य भी तन्त्र वाक्यों का नहीं होता। अत एव तन्त्र विद्या अतिगूढ़ है और रहस्यज्ञ गुरु सिद्ध गुरु भी दुर्लभ है। यह तन्त्र विद्या और तन्त्र आगम शास्त्र अनन्त है। शास्त्रों में समन्वय के द्वारा ही तत्त्व और सिद्धान्त का सम्यक् स्वरूप पाया जा सकता है। आगम और तन्त्र का रहस्य शास्त्र की अनन्तता के कारण जानना अत्यन्त कठिन है। अत: **गच्छत: स्खलनं क्वापि** के सिद्धान्त के अनुसार जो त्रुटियाँ हों विद्वज्जन क्षमा करें।

91 संस्कृत नगर, प्लाट नं. 3
रोहिणी, सैक्टर 14
दिल्ली-110085।

परमार्थसारदिशा आत्मस्वरूपविमर्श:

गोपाल प्रसाद शर्मा

अभिनवगुप्तपादाचार्यै: बहवो ग्रन्था: प्रणीता:। तेषु *परमार्थसारसस्य* अन्यतमं स्थानमस्ति। परमार्थसार: शैवागमस्य प्रतिनिधित्वं करोति। शिवोपासना अति प्राचीना वर्तते। *शुक्लयजुर्वेदस्य* शतरुद्रियाध्याय: शिवस्तुतिरूपेणास्ति।[१] 'हडप्पा–मोहनजोदडो' इत्याख्ययो: स्थानयोरुत्खननेन ज्ञायते यत् पशुपते: (शिवस्य) पूजनं पञ्चसहस्रवर्षपूर्वमपि भवति स्म। अभिनवगुप्तापादाचार्याणां ग्रन्थेषु शिवप्रणाम: सर्वत्र दृश्यते। आचार्यपादै: नाट्यशास्त्रस्य टीका कृता। तत्र मङ्गलाचरणश्लोकेषु शिववन्दना[२] एव कृता। आचार्यपादा: काश्मीरशैवागमस्य महान्त आचार्या: सन्ति। काश्मीरशैवमतस्यापरं नाम प्रत्यभिज्ञादर्शनं त्रिकदर्शनं वास्ति।

परमार्थसार: शेषमुनिकृतस्य *आधारकारिका* इत्याख्यस्य ग्रन्थस्य सङ्क्षिप्तं रूपमस्ति।[३] अत्र पञ्चोत्तरैकशतं पद्यानि सन्ति। आर्याच्छन्दस्येव सर्वे श्लोका निबद्धा: सन्ति। अत्रापि मङ्गलाचरणे शिवप्रणामो दृश्यते।[४] परमार्थसारस्य योगाचार्येण विवृति: कृता। परमार्थसारे शिवस्यानादित्वं प्रतिपादितम्। अत्र आत्मविषयिणीचर्चा स्फुटरूपेण अस्ति।

अयमात्मा चैतन्योऽस्ति। यथा जलप्रवाहे याति सति चन्द्रबिम्बमाकाशस्थितमपि प्रयातीत्येवं दृश्यते, तस्मिन्नेव समयेऽन्यत्र जलाशये नि:स्तिमिते सति तदेव चन्द्रबिम्बं स्थितिं गच्छतीवेत्युभयथा सर्वैरेवं सम्भाव्यते, न पुन: परमार्थेन तत्तथैव स्यात्। तथैवायमात्मा चैतन्यस्व भावोऽस्ति।[५] श्रीमद्भगवद्गीतायामाचार्यपादानां *गीतार्थसंग्रह:* इति नाम्नी टीकास्ति। तत्र **अविनाशि तु तद्विद्धि**[६] अस्य

---

१. *शुक्लयजुर्वेद:* अध्याय 16.

२. वन्देतमां तमहमिन्दुकलावतंसम् 1.1.;
एवं वन्दे शिवं श्रुतितदर्थविवेकिधाम 1.2.;
एवं धर्तृशक्तिमयं वन्दे धरणीरूपमीश्वरम् 1.3.

३. *हिन्दी अभिनवभारत्या* भूमिकायां डॉ. नगेन्द्र:, पृ. 36.

४. *परमार्थसार:* 1.

५. गच्छति गच्छति जल इव हिमकरबिम्बं स्थिते स्थितिं याति।
तनुकरणभुवनवर्गे तथायमात्मा महेशान:।। तत्रैव 7.

६. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2.17.

श्लोकस्य टीकायामाचार्यपादा: कथयन्ति—"यत्तत्त्वदर्शिभिर्दृष्ट: स खलु नित्योऽनित्यो वेत्याशङ्क्याह अविनाशीत्विति। तुश्चार्थे। आत्मा त्वविनाशी।"[७]

आकाशे राहु: सर्वत्र परिभ्रमन्नपि नोपलभ्यते, स एव ग्रहणसमये चन्द्रबिम्बस्थ: प्रथमान:, अयं राहुरिति परीक्ष्यते। तथैव सर्वान्तरतमत्वेन स्थितोऽप्ययमात्मा स्वानुभवैकस्वरूपतया प्रत्यक्षपरिदृश्यमान: सर्वस्य तथा नोपलक्ष्यते।[८] **अन्तवन्त इमे देहा:** [९] अस्य श्लोकस्य टीकायामाचार्यपादा: कथयन्ति—"देहा अन्तवन्तो विनाशिनश्च। आत्मा तु नित्य:। यतोऽप्रमेय:।"[१०] **य एनं वेत्ति हन्तारम्**[११] अस्य श्लोकस्य टीकायामाचार्यपादा: कथयन्ति—"एनमात्मानं देहं च यो हन्तारं हतं च वेत्ति तस्याज्ञानम्। अत एव स बद्ध:।।" [१२]

अयमात्मा कोशत्रयवेष्टितोऽस्ति।[१३] परसूक्ष्मस्थूलरूपेण कोशत्रयेण वेष्टित आत्मास्ति।[१४] *श्रीमद्भगवद्गीतायां* कामेन ज्ञानस्यावरणं वर्णितम्।[१५] अज्ञानेनापि ज्ञानमावृतमस्ति।[१६] कोशत्रयसम्बन्धादात्मोपहत इव भवति—

अज्ञानतिमिरयोगादेकमपि स्वं स्वभावमात्मानम्।
ग्राह्यग्राहकनाना वैचित्र्येणावबुध्येत।।[१७]

भ्रान्ते: शक्ति: कीदृश्यस्ति, यया अज्ञानं वर्धत इत्यत्र आचार्यपादा: कथयन्ति—

---

७. *गीतार्थसंग्रह:* 2.17.

८. राहुरदृश्योऽपि यथा शशिबिम्बस्थ: प्रकाशते तद्वत्।
सर्वगतोऽप्ययमात्मा विषश्रयेण धीमुकुरे।। — *परमार्थसार:* 8.

९. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2.18.

१०. *गीतार्थसंग्रह:* 2.18.

११. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2.19.

१२. *गीतार्थसंग्रह* 2.19.

१३. परमावरणं मल इह सूक्ष्मं मायादि कञ्चुकं स्थूलम्।
बाह्यं विग्रहरूपं कोशत्रयवेष्टितो ह्यात्मा।। —*परमार्थसार:* 24.

१४. तत्रैव *योगराजविवृति:।*

१५. धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। —*श्रीमद्भगवद्गीता* 3.38.

१६. अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव:।। — तत्रैव 5.15.

१७. *परमार्थसार:* 25.

रज्ज्वां नास्ति भुजङ्गस्त्रासं कुरुते च मृत्युपर्यन्तम्।
भ्रान्तेर्महती शक्तिर्न विवेक्तुं शक्यते नाम।।[१८]

आत्मनि अनात्माभिमानपूर्व: अनात्मनि आत्माभिमानो भवति, इति प्रतिपादयन्त आचार्यपादा भ्रान्ते: सुतरां मोहरूपतां वर्णयन्ति—

तिमिरादपि तिमिरमिदं गण्डस्योपरि महानयं स्फोट:।
यदनात्मन्यपि देहप्राणादावात्ममानित्वम्।।[१९]

आत्मा नित्य: सर्वगत: शुद्धो मुक्तश्चास्ति तथापि अख्यातिवशान्मिथ्याविकल्पै: प्रमाता आत्मानं कथं बध्नाति इत्यत्र आचार्यपादा: कथयन्ति—

देहप्राणविमर्शनधीज्ञाननभ: प्रपञ्चयोगेन।
आत्मानं वेष्टयते चित्रं जालेन जालकार इव।।[२०]

न जायते म्रियते[२१] इत्यस्य श्लोकस्य टीकायामाचार्यपादा: कथयन्ति—"अयमात्मा न न भूत्वा भविता अपितु भूत्वैव। अतो न जायते न च म्रियते, यतो भूत्वा न न भविता अपितु भवितैवा।"[२२] एवमेव **वेदाविनाशिनम्**[२३] अस्य श्लोकस्य टीकायामाचार्यपादा: कथयन्ति—"य एनमात्मानं प्रबुद्धत्वाज्जानाति न स हन्ति न स हन्यते न विनश्यति। एवमात्मा देहान्तरावृत:।"[२४] एवमेव **आश्चर्यवत्पश्यति**[२५] इत्यस्य श्लोकस्य टीकायामाचार्यपादा: कथयन्ति—"कश्चिदेनमात्मानं शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां पश्यन् आश्चर्यवत्पश्यति। सर्वगतस्य नित्यज्ञानानन्दस्वभावतोऽस्य कथनं वक्ता वा श्रवणं श्रोता वा दुर्लभोऽत इत्यर्थ:।"[२६] एवमेव **देही नित्यमवध्य:**[२७] अस्य श्लोकस्य टीकायामाचार्यपादा: कथयन्ति—"ननु यद्येवमात्माऽविनाशी किमिति सर्वेण

---

१८. तत्रैव 28.

१९. तत्रैव 31.

२०. तत्रैव 31.

२१. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2.20.

२२. *गीतार्थसंग्रह:* 2.20.

२३. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2.21.

२४. *गीतार्थसंग्रह:* 2.21.

२५. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2.29.

२६. *गीतार्थसंग्रह:* 2.29.

२७. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2.30

तथैव नोपलभ्यते? यत: अद्भुतं कश्चिदेव पश्यति, श्रुत्वाऽपि न कश्चिज्जानाति न वेत्ति।"[२८] तस्मान्मिथ्याविकल्पैरेव प्रमातात्मानं बध्नाति न तु वस्तुत: स बध्नातुं शक्नोति।

अचेतनलक्षणे देहादौ "अहं कृश: स्थूलश्चास्मि" इत्यादि यद् भासनमनात्मन्यात्मतया परामर्शनं तस्मिन्नादावेव अहं नित्य: शुद्धो मुक्तश्चेति भावनया भ्रान्तिं चूर्णीकरोति।[२९]

एवं भ्रान्तेरपसारणात् परमेश्वरीभूतस्य योगिनो न किञ्चित्कार्यमवशिष्यत इति कथयन्ति आचार्यपादा:—

इत्थं विभ्रमयुगलकसमूलविच्छेदने कृतार्थस्य।
कर्तव्यान्तरकलना न जातु परयोगिनो भवति।।[३०]

यदा ते मोहकलिलम्[३१] अस्य श्लोकस्य टीकायाम् आचार्यपादा: कथयन्ति— "अविद्यामदनिपतितप्रमात्रनुग्राहकशास्त्रश्रवणसंस्कारविप्रलम्भमहिमायम्। यत्तवास्थाने कुलक्षयादिदोषदर्शनम्। तत्तु तथा शास्त्रबहुमानविगलने विगलिष्यति।"[३२]

ज्ञानप्राप्त्यनन्तरं प्रमातु: कृतं कर्म न फलोपभोगाय पर्यवस्यति, ज्ञानप्राप्त्यनन्तरं प्रमातु: पुनर्जन्म न भवतीति प्रतिपादयन्ति आचार्यपादा:—

ज्ञानप्राप्तौ कृतमपि न फलाय ततोऽस्य जन्म कथम्।
गतजन्मबन्धयोगो भाति शिवार्क: स्वदीधितिभि:।।[३३]

आत्मा मलत्रयरूपसामग्र्यभावाद् भवाङ्कुरं न विदधाति, ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमात्मा महेश्वर एव भवतीति कथयन्त्याचार्यपादा:—

तुषकम्बुककिंशारुकमुक्तं बीजं यथाङ्कुरं कुरुते।
नैव तथाणवमायाकर्मविमुक्तो भवाङ्कुरं ह्यात्मा।।[३४]

आत्मज्ञो न शोचति न च बिभेति। स कस्मादपि राज्ञ: शत्रो: प्राणिभ्यो वा न भयमादत्त इति वर्णितम्—

आत्मज्ञो न कुतश्चन बिभेति सर्वं हि तस्य निजरूपम्।
नैव च शोचति यस्मात् परमार्थे नाशिता नास्ति।।[३५]

---

२८. *गीतार्थसंग्रह:* 2.30.

२९. यदनात्मन्यपि तद्रूपावभासनं तु तत्पुरा निराकृत्य।
आत्मन्यनात्मरूपां भ्रान्तिं विदलयति परमात्मा।। — *परमार्थसार:* 39.

३०. तत्रैव 30.

३१. *श्रीमद्भगवद्गीता* 2.52.

३२. *गीतार्थसंग्रह:* 2.52.

३३. *परमार्थसार:* 5.6.

३४. तत्रैव 57.

३५. तत्रैव 58.

ईशावास्योपनिषद्यप्यायाति यद्य: सर्वाणि भूतानि चेतनाचेतनानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानमवस्थितं पश्यति ततो न संशेते।[३६] यस्मिन्नवस्थाविशेषे सर्वाणि भूतान्यात्मैव विजानत:, तस्यामवस्थायां कृतचेतसो योगिन: को मोह: कश्च शोक:। अविद्याकार्ययो: शोकमोहयोरसम्भवात् संसारस्यात्यन्तमुच्छेद:।[३७] *कूर्मपुराणे* आत्मन: स्वच्छत्वं, शुद्धत्वं, सूक्ष्मत्वं, सनातनत्वं च प्रतिपादितम्।[३८] आत्मा अन्तर्यामी, पुरुष:, प्राणो, महेश्वरश्चास्तीति श्रुतिसिद्धान्त:।[३९] अयमात्मा विकारशून्यो, निर्द्वन्द्व, आनन्दमय:, अविनाशी चास्ति। अहं कर्तास्मि, सुखी, दु:खी, कृश:, स्थूलोऽस्मीत्याकारिका या बुद्धिर्भवति, साहङ्कारेण भवति। सर्वेषां भूतानां कृतेऽयं संसार एवाज्ञानस्य मूलं कारणम्।[४०] संसारस्य सर्व आत्मान: 'पशव:' सन्ति तेषां पशुपतिरेवेश इति कूर्मपुराणे शिवेन प्रोक्तम्।[४१] य: सर्वभूतात्मास्ति तस्य मोक्षो निश्चयमेव भवति, न तेन किमपि यत् स पवित्रस्थाने निवसति न वा—

अश्नन् यद्वा तद्वा संवीतो येन केनचिच्छान्त:।
यत्र क्वचन निवासी विमुच्यते सर्व भूतात्मा।।[४२]

सर्वभूतस्थमात्मानम्[४३] अस्य श्लोकस्य टीकायामाचार्यपादा: कथयन्ति—"सर्वेषु भूतेष्वात्मानं ग्राहकतयानुप्रविशन्तं भावयेत्। आत्मनि च ग्राह्यताज्ञानद्वारेण सर्वाणि भूतान्येकीकुर्यात्। अतश्च समदर्शनत्वं

---

३६. यस्तु सर्वाणि भूतान्त्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।। — *ईशावास्योपनिषत्* 6.

३७. यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवा भूद्विजानत:।
तत्र को मोह: क: शोकऽएकत्वमनुपश्यत:।। — तत्रैव 7.

३८. आत्मायं केवल: स्वच्छ: शुद्ध: सूक्ष्म: सनातन:।
अस्ति सर्वान्तर: साक्षाच्चिन्मात्रस्तमस: पर:।। — *कूर्मपुराणम्,* उत्तरभागे 2.4.

३९. सोऽन्तर्यामी स पुरुष: स प्राण: स महेश्वर:।
स कालोऽत्र तदव्यक्तं स च वेद इति श्रुति:।। — तत्रैव 2.5.

४०. विकारहीनं निर्द्वन्द्वमानन्दात्मानमव्ययम्।
अहं कर्त्ता सुखी दु:खी कृश: स्थूलेति या मति:।।
सा चाहङ्कारकर्तृत्वादात्मन्यारोपिता जनै:।
वदन्ति वेदविद्वांस: साक्षिण: प्रकृते: परम्।।
भोक्तारमक्षरं बुद्धं सर्वत्र समवस्थितम्।
तस्मादज्ञानमूलो हि संसार: सर्वदेहिनाम्।। — तत्रैव, 2.14-16.

४१. आत्मान: पशव: प्रोक्ता: सर्वे संसारवर्तिन:।
तेषां पतिरहं देव: स्मृत: पशुपतिर्बुधै:।। — तत्रैव 7.18.

४२. *परमार्थसार:* 69.

४३. *श्रीमद्भगवद्गीता* 6.29.

जायते योगश्च।"[४४] अज्ञानग्रन्थि भेद एव मोक्षस्य स्वरूपम्। मोक्षस्यातिरिक्तं स्थानं न विद्यत इत्युपदिशन्त्याचार्यपादा:—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्ष:।।[४५]

जीवन्मुक्त: शरीरनिर्वाहार्थं यत्किमपि कर्म करोति तत्कर्म फलाय न भवतीति कथयन्त्याचार्यपादा:—

अग्न्यभिदग्धं बीजं यथा प्ररोहासमर्थतामेति।
ज्ञानाग्निदग्धमेवं कर्म न जन्मप्रदं भवति।।[४६]

य: परमार्थविद् भवति, स: अश्वमेधादियागजनितै: पुण्यै:, ब्रह्महत्यादिपापै: न स्पृश्यते—

हयमेधशतसहस्राण्यपि कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापै: स्पृश्यते विमल:।।[४७]

प्रमाता आत्मज्ञानादेव कैवल्यं याति, स: प्रयागादितीर्थे, अशुद्धे अतिपापीयसि स्थले वा शरीरं त्यजेत्—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्त: कैवल्यं याति हतशोक:।।[४८]

इत्थं परमार्थसारे स्पष्टतया आचार्यपादै: प्रतिपादितं यदयमात्मा नित्य:, शुद्धो, मुक्तश्च। 'अहं कर्त्तास्मि' इत्यत्राहङ्कार एव न त्वात्मनि कर्त्तृत्वादय: सन्ति। अयमात्मा प्रकृते: परोऽस्ति, तस्मादज्ञानिनां कृते अयं संसार: अज्ञानस्य मूलं कारणमस्ति न त्वात्मज्ञानिनां कृते।

सहाचार्य: वेदविभाग:,
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्,
नवदेहली 110016

४४. *गीतार्थसंग्रह:* 6.29.

४५. *परमार्थसार:* 60.

४६. तत्रैव 62.

४७. तत्रैव 70.

४८. तत्रैव 83.

महाभारतीय देवता तत्त्व निरूपण

डॉ. दयानिधि शर्मा

सम्प्रत्यय

'देवता' शब्द से तात्पर्य है; देव होने का भाव। यह सर्वोत्तम और परम उपकार करने वाले की श्रेणी में परिगणित होता है। इनके पास विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ और समृद्धियाँ होती हैं। ये मानव को अनेक प्रकार के अनुग्रहों से सन्तुष्ट करने का सामर्थ्य रखते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने *गीता* में संसार की समस्त वस्तुओं को स्वयं के तेज अंश से ही उत्पन्न स्वीकार किया है—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।

आराधकों के हितकारी

संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपने उपास्य देवता के प्रति सर्वदा श्रद्धान्वित रहता है। उसे वह पूर्ण ब्रह्म मानकर और विश्वास करते हुए उसकी आराधना अहर्निश करता रहता है। आराधक के लिए आराध्य उसके जीवन का प्रमुखाधार है। आराध्य के अभाव में आराधक की नौका भवसागर से पार पाने में सशंकित रहती है। अत: आराधकों के हितैषी देवता उनके भगवान् हैं जिनका मार्गदर्शन वे समय-समय पर प्राप्त करते रहते हैं एवं दुस्तर को भी पार कर लेते हैं—

हरिं नरा भजन्ति ये, अतिदुस्तरं तरन्ति ते,
न अन्यथा वचांसि मे।। — *रामचरितमानस*, उत्तरकाण्ड 197

मूल देव-विचार

यदि संख्यात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो देवों की कुल संख्या तैंतीस (33) मानी गई है। इनका उल्लेख विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होता है। इनके प्रसङ्ग में यह प्रसिद्ध है—

त्रयस्त्रिंशत् इत्येते देवाः। — *महाभारत*, आदिपर्व 66/37

विशेषत: ताण्ड्यब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लिखित देवताओं में प्रमुखत: आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और इन्द्र ये तैंतीस देवता हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि कालान्तर में

यह संख्या तैंतीस करोड़ तक पहुँच गई है। सम्प्रति चर्चा का विषय यह है कि 'तैंतीस कोटि' देवताओं के सन्दर्भ में 'कोटि' शब्द प्रकारवाचक है, न कि संख्यावाचक। इसमें अन्तरिक्ष स्थानीय देवता, पृथ्वी स्थानीय देवता और द्यु स्थानीय देवता सम्मिलित हैं।

आहुति विधान एवं तपश्चर्या

अग्नि में आहुति प्रदान करने से देवता प्रदत्त हवि: को ग्रहण करके यजमान का कल्याण करते हैं। पशुपति, जातवेद, रुद्र, ब्रह्मा और हिरण्यरेता अग्नि के ही विभिन्न नाम हैं। 'अग्निहोत्री' शब्द अग्नि की उपासना करने वालों के प्रति प्रयुक्त होता है। अग्नि देव की उपासना के साथ-साथ अन्य देवों की भी पूजा हो जाती है।

अग्निर्हि देवता: सर्वा:। — *महाभारत*, अनु. 84/56

वस्तुत: अग्निदेव समस्त देवताओं में काफी तेजस्वी माने गए हैं। वह अन्य सभी देवताओं के प्रतीक भी स्वीकार किए जाते हैं। समस्त गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले अग्नि देव की उपासना अवश्य करें। यदि सहदेव के साथ अग्नि की स्तुति करते हैं तो यह सोने में सुहागा होगा तथा विशेष पुण्यफल के सन्दर्भ में शोभा बढ़ाने वाला माना जायेगा।

इन्द्र देव

देवताओं के राजा इन्द्र कहलाते हैं। इन्हें 'देवराज' की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है—

इन्द्रो हि राजा देवानाम्। — *महाभारत*, आदिपर्व 123/22

यह शक्तिशाली देव हैं। इनका अस्त्र वज्र है। इनके मन्त्री बृहस्पति हैं। इनके द्वारा असुर वृत्रासुर का वध किया गया था। इन्द्र की सभा अत्यन्त रमणीय होती है। इनकी सभा में देवता एवं देवर्षि दोनों ही समान भाव से आदर प्राप्त करते हैं। अनेक प्रसिद्ध अप्सराएँ यथा उर्वशी, रम्भा आदि नृत्य-गीतादि से उनका मनोरञ्जन करती हैं। राजा इन्द्र को मेघों का स्वामी भी कहा गया है। इनकी आज्ञा से मेघ वृष्टि करते हैं—

बभूव यज्ञो देवेभ्यो यज्ञ: प्रीणाति देवता:। — *महाभारत*, शान्तिपर्व 121/37

यज्ञाद् भवति पर्ज्जन्य:। — *महाभारत*, भीष्मपर्व 27/14

कुबेर

धन के स्वामी या अधिपति कुबेर देव हैं। इन्हें विभिन्न जातियों का नायकत्व भी प्राप्त है, जैसे गन्धर्व एवं राक्षस जातियाँ। इनका वासस्थान कैलाश पर्वत है। उनके अनुचरों में मणिभद्र का नाम प्रसिद्ध है।

'गन्धमादन' पर्वत को भी कुबेर का ही निवास बतलाया गया है। कुबेर की किसी पर भी कृपा होने पर वह मनुष्य धन-धान्य से परिपूर्ण हो जाता है—

धनानां राक्षसानाञ्च कुबेरमपि चेश्वरम्। — *महाभारत*, शान्तिपर्व 122/28
गन्धमादनमाजग्मुः प्रकर्षन्त इवाम्बरम्। — *महाभारत*, वनपर्व 161/29

वरुण देव

ये जल के अधिपति देव माने जाते हैं। प्राचीनकाल में उन्हें देवों के सेनापति की संज्ञा प्राप्त थी। ऐसी मान्यता है कि भगवान् शङ्कर ने इन्हें जल के अधिष्ठाता/अधिपति पद पर नियुक्त किया है। इनके विषय में प्रसिद्ध है—

पुरा यथा महाराजो वरुणं वै जलेश्वरम्। — *महाभारत*, शल्यपर्व 45/22
अपां राज्ये सुराणाञ्च विदधे वरुणं प्रभुम्। — *महाभारत*, शान्तिपर्व 122/29

विष्णु

भक्ति और उपासना करने वाले मनुष्यों का एक सम्प्रदाय भगवान् विष्णु की आराधना करता है। पुण्डरीकाक्ष भगवान् विष्णु की उपासना से मनुष्य अनेक दुःखों से मुक्त हो जाता है। तीन प्रकार के ताप (दैहिक, दैविक, भौतिक) उसे कष्ट नहीं देते। अनेक विद्याओं और दर्शनों का प्रादुर्भाव भगवान् विष्णु के अनुग्रह का ही फल है। वे गायों के मध्य रहना पसन्द करते हैं।

हृदये सन्तु मे गावः, गवां मध्ये वसाम्यहम्।

फल सहित विष्णु आराधन

भगवान् विष्णु की पूजा फल और कामनाओं की प्राप्ति के लिए भी की जाती है। जैसे मार्गशीर्ष मास में द्वादशी के दिन, दिन-रात 'केशव' का कीर्तन या अर्चना करने से अश्वमेध यज्ञ के सदृश फल मिलता है। इस कीर्तन से मनुष्य के पाप दूर हो जाते हैं—

कलौ हरिकीर्तनम्।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद। — *स्कन्दपुराण*

कदाचित् माघ मास और पौष मास में भी विष्णु की अर्चना से विशेष लाभ प्राप्त होता है। यथा भिन्न मास में भिन्न नाम से भगवान् की कीर्तन करने से मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है—

मार्गशीर्ष	—	केशव
पौष	—	गदाधर

माघ	—	माधव
फाल्गुन	—	गोविन्द
चैत्र	—	विष्णु
वैशाख	—	मधुसूदन
ज्येष्ठ	—	त्रिविक्रम
आषाढ़	—	वामन
श्रावण	—	श्रीधर
भाद्रपद	—	हृषीकेश
आश्विन	—	पद्मनाभ
कार्तिक	—	दामोदर

विष्णु विग्रह

भगवान् विष्णु के स्वरूपों की चर्चा के विषय में *धुन्धुमारोपाख्यान* में विष्णु का स्वरूप वर्णित है। उसमें भगवान् के विषय में कहा गया है कि वे अनन्त शय्या पर शायित हैं। उनकी नाभि से स्वर्णकमल प्रकट हुआ है। इसी कमल के माध्यम से पितामह ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। भगवान् कौस्तुभधारी और मुकुटधारी हैं। उनके पीतवर्णी वस्त्र हैं। सूर्य की रश्मियों के सदृश उनका शरीर है। वे परम कृपालु और तेजस्वी हैं।

शिव

शिव को भगवान् शङ्कर, रुद्र और महादेव जैसे पर्याय नामों से जाना जाता है। प्राचीनकाल में शिव की उपासना का विशिष्ट महत्त्व स्वीकार किया गया है। वे आशुतोष कहे जाते हैं। वे अपने भक्तों पर शीघ्र एवं असीम कृपा करते हैं। भगवान् शिव का वासस्थान कैलाश पर्वत पर स्थित है। यह उक्ति प्रसिद्ध है—

कैलासं पर्वतं गत्वा तोषयामास शङ्करम्। — *महाभारत*, वनपर्व, 108/26

महाभारत काल में विशेष रूप से जरासन्ध, कुमारी गांधारी, जयद्रथ, भीम, अम्बा, द्रुपद, सोमदत्त, अर्जुन और द्रौपदी के द्वारा भगवान् शङ्कर की विशेष अर्चना किए जाने के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

इतर देवता

अन्य देवताओं में यम, श्री, ब्रह्मा, सूर्य, कृष्ण, सरस्वती, सावित्री, स्कन्द, गङ्गा, हेरम्ब (गणेश), वराह, कल्कि इत्यादि प्रात: स्मरणीय एवं स्तुत्य हैं। इहलोक और परलोक की कामना करने वाले मनुष्यों को इनकी आराधना अवश्य करनी चाहिए। ऐसा भारतीय देव विधान प्रमाणित करता है।

संसार का प्रत्येक उपासक अपनी प्रवृत्ति के अनुसार किसी भी आराध्य देव की उपासना करके परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। वस्तुत: देव उपासना विश्वास और श्रद्धा का विषय है। यह तर्क का विषय नहीं है। यथा 'ब्रह्म' शब्द का तात्पर्य 'जो स्वयं बड़ा (सबसे) है' अथवा 'जो बड़ा करता/बनाता है' यह स्वीकार किया गया है। भक्त तुलसी का सुन्दर कथन उल्लेखनीय है—

भाव बस्य भगवान्,
सुख निधान करुणा अयन।
तजि ममता मद मान,
भजिअ सदा सीतार वन।। — *रामचरितमानस*, उत्तरकाण्ड

आलोच्य ग्रन्थ

1. भट्टाचार्य, सुखमय (1966), महाभारतकालीन समाज : इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन।

2. शास्त्री, उमेश (1989), भारतीय संस्कृति के तत्त्व, जयपुर, श्याम प्रकाशन।

3. नगेन्द्र, डॉ. (2000), हिन्दी साहित्य का इतिहास, दिल्ली, राजपाल प्रकाशन।

4. वैदिक सूक्त कुसुमाञ्जलि (1996)।

5. दास, तुलसी (2005), श्री रामचरितमानस, बम्बई, श्री वेंङ्कटेश्वर प्रकाशन।

सहायकाचार्य,
शिक्षा संकाय,
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, श्री रणवीर परिसर
पो. जम्मू (जम्मू कश्मीर)

महाविद्या भगवती तारा सपर्या विधि

आचार्य नटवरलाल जोशी

असद् सदिवाभाति न च भाति कदापि सत्।
यस्मिन् ज्ञाते न सा भाति यस्यै तस्यै नमो नमः।।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायिका महाशक्ति ही परब्रह्म परमात्मा है। यही भगवती महालक्ष्मी है, जिनकी आज्ञा से जिनकी शक्ति से ब्रह्मा-विष्णु-महेश विश्वोत्पत्ति विश्व पालन एवं विश्व संहार करते हैं। यही जगन्माता-जगद्धात्री-राजराजेश्वरी-ललिता-त्रिपुरसुन्दरी-कामेश्वरी है, नव दुर्गा है, दशविद्या है। यही जगदम्बिका जगत्पिता है-कामेश्वर है-महाशिव है-सर्वेश्वरी है। अग-जग-जड़-चेतन में सर्वत्र व्याप्त परिदृश्यमान-अदृश्य-व्यक्त और अव्यक्त एक शक्ति तत्त्व से सारा ब्रह्माण्ड परिचालित है।

दश महाविद्याओं में ही एक भगवती तारा है—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च धूमावती विद्या तथा।
बगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका।।

भगवती तारा ही द्वितीया, सुतारा, उग्रतारा एकजटा और नील सरस्वती कही गई हैं। जैन सम्प्रदाय में सुतारा और बौद्ध धर्म में एकजटा यही कही गई है।

तारा-'तरत्यनया सा तारा'—जो संसार सागर से तारे वही माँ तारा है।

श्री तारारहस्य निरूपण में कहा गया है कि—**अस्ति समस्तजगदुत्पत्तिपालनसंहारकर्त्तृभिर्ब्रह्मविष्णुमहेशै रूपसेव्यमाना, जगदाधाररूपा, संसारभयनाशिनी अपुनरावृत्तिकारिणी, संसारतारिणी तारानाम्नी शक्तिः परममहती।**

महाविद्या तारा का महत्त्व अतिशायी है। अन्वर्थनामा है—भगवती तारा। संसार सागर से जो तारे संसार के क्लेशों से जो तारे, वह तारा भवभय हारिणी, संसार तारिणी तारा की उपासना सहज है—यह बताते हुए तन्त्र ग्रन्थों में कहा गया है कि—

बिना ध्यानं बिना जाप्यं बिना पूजादिभिः प्रिये।
बिना बलिं बिनाभ्यासं भूतशुद्ध्यादिभिर्विना।।
बिना क्लेशादिभिर्देवि देहदुःखादिभिर्विना।
सिद्धिराशु भवेद् यस्मात् तस्मात् सर्वोत्तमा मता।।

बिना ध्यान, बिना जप-पूजा और बलि अभ्यास और भूत शुद्धि और बिना देह दुःख और क्लेश उठाये ही इसकी सिद्धि शीघ्र हो जाती है। अतः भक्तों के लिए इसे सर्वसुलभा कहा जा समुचित ही तो है।

तारा को तोयप्लवे तारिणी भी कहा गया है। तारा की उपासना बौद्ध मत में भी प्रचलित है और यह कहा जाता है कि बौद्ध मतानुसार तारा की उपासना शीघ्र फलप्रद है। कहा जाता है कि किन्हीं वशिष्ठ मुनि को चीनाचार बौद्ध आचार क्रम से आराधना करने से ही सिद्धि मिली थी।

ब्रह्माण्डपुराण में भगवती को तारा अम्बा कहा गया है। इसमें मनोनाम महाशाल के वर्णन में कहा गया है—

न तत्र गन्तुं मार्गोस्ति नौकावाहनमन्तरा।
तारा नाम महाशक्तिर्वर्त्तते तोरणेश्वरी।।

प्रधानभूता ताराम्बा जलौघशमनक्षमा।।
तारा तरणिशक्तीनां समवायोतिसुन्दरः।
ताराम्बा महती नौकामधिगम्य विराजते।।

तारिणी, तरला, तारा, त्रिरूपा, तरणि, प्रभा, सत्त्वरूपा, रजोरूपा, तमोरूपा, परानन्दा, तत्त्वज्ञानप्रदा और अनघा इसे ही कहा गया है। यही आदिशक्ति महामाया और नित्यानन्दकरी कही गई हैं। तारा तारयति क्लेशान्। जो क्लेश से तारे वह तारा, अस्तु।

महादेवी तारा की अचिन्त्य महिमा है। विधिपूर्वक आराधना-पूजा से भगवती सर्वकाम फलप्रदा है। सङ्क्षेप में पूजा विधि का वर्णन जिज्ञासुओं के लिए उपादेय होगा।

ध्यान—साधक एकाग्र होकर भगवती तारा का ध्यान करे।

प्रत्यालीढपदर्पिताङ्घ्रिशवहृद् घोराट्टहासारवा।
खड्गेन्दीवरकर्त्तृखर्परभुजा हुङ्कारबीजोद्भवा।
खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजुटैकनागैर्युता
जाड्यं न्यस्य कपालकर्त्तृ जगतां हन्त्युग्रतारां स्वयम्।।

एवं—

ज्वलत्पावकज्वालज्वालाभिभास्वत्
चितामध्यसंस्थां सुपुष्टां सुखर्वाम्।
शबं वामपदेन कण्ठे निपीडय
स्थितां दक्षिणेनांघ्रिणांघ्रिं निपीडय।।

ध्यान के बाद यन्त्रोद्धार करे। सयोनि अष्टदल पद्म चन्दन से लिखे।

सयोनिं चन्दनेनाष्टदल पद्मं लिखेत्ततः।
मृद्वासनसमासाद्य मायाम्पूर्वदले लिखेत्।
बीजं द्वितीयं याम्ये फट्–उत्तरे पश्चिमे तु ठम्।
मध्ये बीजं लिखेत्तारञ्च भूतशुद्धिमथाचरेत्।।

बीच में त्रिकोण बनाकर श्रीं लिखे। पूर्व में ह्रीं पश्चिम में फट् दक्षिण में ठं एवं उत्तर में ऐं बीज लिखे।

इसके बाद मन्त्रोद्धार करे। पहले वाग्बीज ऐं बोले बाद में ॐ बोले सञ्ज्ञा बीच में ह्रीं बोलकर तारा बीज क्रीं बोले और तब हूं फट् का उच्चारण करे। ऐं ओं ह्रीं क्रीं हूँ फट् यह तारा मन्त्र हैं।

अथः तारासपर्या विधिः

कुशा हाथ में रखे। मौन रहकर हस्तमूल से आचमन करें।

'ॐ वज्रोदके हूँ फट्' यह बोलकर जल हाथ में लेकर 'ॐ ह्रीं स्वाहा' यह बोलकर पाद प्रक्षालन करें।

'ॐ ह्रीं स्वविशुद्धधर्मस्वपापानि शमयाशेषविकल्पानपनय स्वाहा'—यह बोलकर आचमन करें। 'ॐ मणिधरि वज्रिणि शिखरिणि सर्ववशंकरि हूँ फट्'—यह बोलकर शिखा बन्धन करें।

'ॐ रक्ष रक्ष हूं फट् स्वाहा'—इससे भूमि संशोधन करें।
'ॐ पवित्र वज्रं मे हूँ स्वाहा'—इस मन्त्र से भूमि का अभिमन्त्रण करने के बाद,
'ॐ आसुरेश्वरि व्रजरेखे स्वाहा' यह बोलकर भूमि का स्पर्श करें।
'ॐ आधारशक्तिकमलासनाय नमः'—इस मन्त्र से सम्पूजन कर आसन का स्पर्श करें।
'पृथ्वीत्यादि मन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषि सुतलं छन्द कूर्मो देवता'—आसने विनियोगः—जल छोड़कर

'पृथिवि त्वया धृता लोकाः देवि त्वं विष्णुना स्मृता ।
त्वं च धारय मां देवि! पवित्रं कुरु चासनम्।।'

इसके बाद सभी विघ्नों को दूर भगाने के लिए—

ॐ अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूमिसंस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञाया।।

ऐसा बोलकर अक्षत फेंककर—विघ्नों को दूर करें रोली (गन्ध) पुष्पों से दोनों हाथों को रगड़ कर उन पुष्पों को धनुष मुद्रा से ईशान दिशा में 'ॐ ते सर्वे विलयं यान्तु, ये मा हिसन्ति हिंसकाः। मृत्यु रोगभयक्रोधाः पतन्तु रिपु मस्तके हूँ फट्'—यह मन्त्र बोलकर छोड़ें।

सामान्य अर्ध्य स्थापन विधि—

ॐ आधारशक्तये नमः—यह बोलकर आधार शक्ति का अभिमन्त्रण करें—चन्दन से चतुरस्र लिखकर उस पर—'ॐ ह्रूः सामान्यार्ध्यं स्थापयामि नमः'—यह बोलकर सामान्यार्ध्य स्थापन कर उसमें प्रणव (ॐ) बोलकर जल रखें और—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।

यह बोलकर सूर्य मण्डल से अंकुश मुद्रा से तीर्थों को उस जल में आवाहन करें और पुष्प तथा अक्षत से गङ्गादिसकलतीर्थेभ्यो नमः—से सभी का सम्पूजन कर हृदयादिषडङ्गदेवताभ्यो नमः—उन देवताओं का सम्पूजन करें।

इसके बाद—

ॐ आं अर्कमण्डलाय द्वादश कलात्मने नमः।
ॐ वह्निमण्डलाय द्वादश कलात्मने नमः।
ॐ डं सोममण्डलाय षोडश कलात्मने नमः।

इन मन्त्रों से अर्क (सूर्य) वह्नि (अग्नि) तथा चन्द्र मण्डलों का सम्पूजन करें।

वमिति धेनु मुद्रा से अमृतीकरण करें। हूमिति कवच से इनका अवगुण्ठन करें। फड् इति अस्त्र से संरक्षा करें ओर दश बार ओंकार का जाप करें। यह सामान्य अर्ध्य स्थापन की विधि करने के बाद सामान्य अर्ध्य के पात्र के जल से अपना एवं पूजा के उपकरणों का अभिसिंचन करें।

इसके बाद विशेष अर्ध्य की स्थापना विधि इस प्रकार है—ॐ आशुरेखे वज्ररेखे हूँ स्वाहा—इस मन्त्र से मण्डल की रचना करें और नं वम् यह बोलकर पृथ्वी का सम्मार्जन करें और वहाँ त्रिकोण वृत्त वाला भू गृहात्मक मण्डल बनायें और वहाँ आधार शक्ति कूर्म एवं शेषनाग का सम्पूजन करें और वहाँ 'ह्रीं फट्' इस मन्त्र से आधार की स्थापना करें और पूर्वोक्त 'ॐ वह्निमण्डलाय दश कलात्मने नमः'—इस मन्त्र से त्रिकोण, वृत्त, भूगृहात्मक इन मण्डलों की पूजा करें और 'हूँ फट्' इस मन्त्र से शंख का प्रक्षालन कर उसे स्थापित करने के बाद—

ह्रीं ह्रीं हूं कालीकपालाय नमः
स्त्रां स्त्रीं स्त्रूं तारिणीकपालाय नमः
हाँ हीं हूँ नीलकपालाय नमः
ह्रां ह्रीं ह्रूं स्वर्गकपालाय सर्वाधाराय
सर्वोद्भवाय सर्वशुद्धिमयाय सर्वासुररूधिरारूणाय शुभ्राय सुराभाजनाय देवीकपालाय नमः।

इन चारों मन्त्रों से शंख की पूजा करें। बाद में पूर्वोक्त 'ॐ आं अर्कमण्डलाय द्वादश कलात्मने नमः' इस अर्क मण्डल मन्त्र से अर्क मण्डल की पूजा करें—इसके बाद मूल मन्त्र से शंख में जल रखकर स्वधा बुद्धि से वहाँ गन्ध–पुष्प–अक्षत डालें।

इसके बार 'त्रिखण्डा मुद्रा' प्रदर्शित करें और पूर्वोक्त चन्द्र मण्डल मन्त्र (ॐ सोममण्डलाय षोडश कलात्मने नमः) से उस मण्डल की पूजा करें और ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ओं ह्रीं त्रीं हूँ फट् ह्रौ हूँ इससे आठ बार जल का अभिमन्त्रण करें और ह्रीं इस मन्त्र से शंख मुद्रा, धेनु मुद्रा, योनि मुद्रा दिखाकर मत्स्य मुद्रा में ढककर दश मूल मन्त्र पढ़ें। इसके बाद वृत्त, अष्ट दल, षट्कोण का ध्यान कर भगवती देवी का चिन्तन करें, पूजन करें, मूल मन्त्र से सन्तर्पित करें और 'ऐं ह्रौं ह्रौं आनन्दभैरवं तर्पयामि' इस मन्त्र से सन्तर्पित करें और उस अर्घ्य जल से पूजा के साधनों का प्रोक्षण करें (पूजा साधनों पर वह जल छिड़कें) यह विशेषार्घ्य विधि हुई।

और तब ॐ यथागताभिषेक ममाग्नि से हूँ फट् इस मन्त्र से पुष्प का संशोधन कर ॐ आं ह्रीं स्वाहा—बोलकर चित्त संशोधन करें।

ऋष्यादिन्यास

शिरसि वसिष्ठाय ऋषये नमः।
मुखे अनुष्टुप्छन्दसे नमः।
हृदये त्र्यम्बकदेवतायै नमः।

हृदयादिन्यास

ह्रां हृदयाय नमः।
ह्रीं शिरसे स्वाहा।
ह्रूं शिखायै वषट्।
ह्रैं कवचाय हूम्।
ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्।
ह्रः अस्त्राय फट्।

करन्यास

ह्रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
ह्रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा।
ह्रूं मध्यमाभ्यां वषट्।
ह्रैं अनामिकाभ्यां हूम्।
ह्रौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्।
ह्रः करतल करपृष्ठाभ्यां फट्।

इसके बाद मूल से तीन बार व्यापक न्यास करें। इसके मूल मन्त्र से या स्व बीज से तीन बार प्राणायाम करें। वह इस प्रकार कि चार बार जपकर पूरक प्राणायाम करें, सोलह बार जपकर कुम्भक करें, आठ बार जपकर रेचक करें। इसके विपरीत द्वितीय प्राणायाम एवं उसके विपरीत तृतीय प्राणायाम करें।

इसके बाद षट्कोण, अष्टदल, भुपुर यन्त्र लिखकर मध्य में ह्रौं बीज लिखकर यन्त्र का संस्कार करें और मध्य में मेधा, प्रज्ञा, विद्या, धी, धृति, स्मृति, बुद्धि विद्यैश्वर्य की पूजा करें और पुष्प लेकर '3ॐ सरस्वती योगपीठाय नमः' ऐसा बोलकर यन्त्र के मध्य में पुष्प अर्पित करें और देवी का ध्यान करें। ध्यान श्लोक—

विश्वव्यापकवारिमध्यविलसत् श्वेताम्बुजन्मास्थिताम्,
कर्त्रीखड्गकपालनीलनलिनैराजत्करामिन्दुभाम्।
काञ्चीकुण्डलहारकङ्कणलसत्केयूरमञ्जीरताम्।
आप्तैर्नागवरैर्विभूषिततनूमारक्तनेत्रत्रयाम्।।
पिङ्गोग्रैकजटांल्लसत् स्वरसनात् दंष्ट्राकरालाननाम्
धर्मद्वैषि वरङ्कटौ विदधतीं श्वेतास्थिपट्टालिकाम्
अक्षोभ्येण विराजमान शिरसं स्मेराननाभ्यो रूहां
तारां शावहृदासनान् दृढकुचाम्–अम्बान्त्रिलोक्याः स्मरेत्।।

इस प्रकार ध्यान करकक्षपिका (अञ्जलि) बाँध कर पुष्पाक्षत लेकर मूलाधार से कुण्डलिनी उठाकर द्वितीय मूर्त्ति निकालकर उसके मुख में 'सोहम्' इस प्रदीप कलिका जीवमूर्त्ति को डालकर उसे सहस्रदल पद्म में स्थित ब्रह्म से संयोजित कर चन्द्र मण्डलस्थ अमृत से सन्तुष्ट कर कुण्डलिनी से जीवमूर्त्ति को अलग कर दक्षिण नासापुट से निकले पुष्प और अक्षत की विभावना कर उन पुष्पाक्षतों को षट्कोण अष्टदल और भूपुर आत्म यन्त्र में डालकर वहाँ देवी का आवाहन करें। आवाहन श्लोक—

महापद्म वनान्तस्थे कारणानन्द विग्रहे।
सर्वभूतहिते मातरेह्येहि परमेश्वरि।।

यह पढ़ें और मूल मन्त्र पढ़ते हुए भगवति तारादेवि इहागच्छ इहतिष्ठ मम पूजा गृहाण इस सन्निधेहि इह सन्निरूध्यस्व इह सम्मुखी भव।

तत्तन्मुद्रा प्रदर्शित करते हुए मूल मन्त्र बोलते हुए 'एष: पुष्पाञ्जलि—श्रीतारादेवि वज्रपुष्पं प्रतीक्ष्य हूँ फट् स्वाहा—श्री तारा देव्यै नम:' 5 बार पुष्पाञ्जलि देवें। इसी तरह मूल मन्त्र के साथ इदं पाद्यम्, श्रीतारादेव्यै नम: इदं आचमणीयं श्रीतारादेव्यै नम: एष: मधुपर्क: श्रीतारादेव्यै नम: मधुपर्क दें। इदं स्नानीयं श्रीतारादेव्यै नम:—भगवती को स्नान करायें, इसी प्रकार मूल मन्त्र बोलते हुए पुष्पाञ्जलि अर्पण कर वस्त्र अर्पित करें, आभूषण अर्पित करें। मूल मन्त्र के साथ 'इमानि पुष्पाणि वज्र पुष्पं प्रतीक्ष्य हूँ फट् स्वाहा श्रीतारादेव्यै वौषट्'—बोलकर पुष्प अर्पित करें।

आवरण पूजा

पहले गणेश पूजन—गणेश इहागच्छ, इह तिष्ठ—गं गणेश वज्रपुष्पं प्रतीक्ष्य फट् स्वाहा बोलकर पुष्प प्रदान करें। इसी तरह दक्षिण में बटुक भैरव का आवाहन साधन कर पुष्प दान कर पूजन करें—पश्चिम में क्षेत्रपाल का आवाहन स्थापन कर पूजन करें। उत्तर में योगिनी का आवाहन-स्थापन कर पूजन करें। इसके बाद भगवती तारादेवी के मस्तक पर विराजमान अक्षोभ्य (शिव) का अक्षोभ्यं वज्रपुष्पं प्रतीक्ष्य स्वाहा इस मन्त्र से पूजन करें। इसके बाद षट्कोणों में षडङ्ग की पूजा करें। वह इस प्रकार कि—

एक जयायै नम: — इति हृदयाय
तारिण्यै नम: — इति शिरसि
वज्रोदकाय नम: — इति शिखायाम्
उग्रतारायै नम: — इति कवचे
महापरिशरायै नम: — इति नेत्रे
पिङ्गोग्रैकजटायै नम: — सभी दिशाओं में पूजन करें।

इसके बाद दिग् दलों में—वैरोचनमसिताभं पद्मनाभं शङ्खपाण्डुरं वैरोचनं वज्र पुष्पं प्रतीक्ष्य स्वाहा—यह मन्त्र बोलकर पुष्पदान करें।

ईशान-आग्नेय-नैर्ऋत्य-वायव्य—इन दिशाओं में नामकं मायकं पाण्डुरं तारकं का पूजन उपर्युक्त मन्त्र बोलकर करें।

इसके बाद भूगृह (भूपुर) के चारों द्वारों पर पद्मात्मक-जन्मान्तक-विद्यान्तक एवं नरकान्तक का पूजन करें। इनके पुष्पार्णव का मन्त्र—

पद्मान्तकं जन्मान्तकं, विघ्नात्मकं नरकान्तकं
वैरोचनवज्र पुष्पं प्रतीक्ष्य स्वाहा।

इसके बाद इसके बाहर इन्द्रादि दिक्पालों का पूजन करें और तत्पश्चात् वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाशांकुश, गदा, शूल तथा चक्र का पूजन करें। इसके बाद धूप अर्पित करें।

साङ्गायै सायुधायै सपरिवारायै सवाहनायै मूलं श्रीतारादेव्यै नमः। दीपं दर्शयामि। दीप दिखायें, नैवेद्य समर्पित करें।

वह इस प्रकार हो—स्वर्णादिभाजने नैवेद्यं परिवेष्य—वायु बीज बारह बार जपें और उससे उत्पन्न मरुत् से नैवेद्य का संशोधन कर दक्षिण करतल पर वाम करतल (हथेली) रखकर उससे उत्पन्न अग्निबीज बारह बार जपने से उत्पन्न अग्नि से नैवेद्य के दोष जलाकर, वाम करपृष्ठ पर दाहिना हाथ रखकर वं बीज बारह बार जपें और उससे उत्पन्न अमृतधारा से नैवेद्य का अभिसिञ्चन करें। पुनः मूलमन्त्र जप से नैवेद्य का अभिसिञ्चन कर उसका स्पर्श कर आठ बार मूल मन्त्र जपें और धेनुमुद्रा प्रदर्शित कर गंधपुष्प उसका अर्चन (पूजन) करें और इसके बाद नैवेद्य के पात्र को बाएँ अङ्गुष्ठ से स्पर्श कर दाहिने हाथ से जल लेकर मूल मन्त्र पढ़ते हुए **इदं नैवेद्यं साङ्गायै सायुधायै सपरिवारायै सवाहनायै सावरणायै श्रीतारादेव्यै नमः**—ऐसा बोलकर नैवेद्य रखकर अङ्गुष्ठ-अनामिका से नैवेद्य मुद्रा प्रदर्शित कर पुष्प सहित दोनों हाथों से तीन बार उठाते हुए बाएँ हाथ से ग्रास मुद्रा दिखाएँ।

इसके बाद प्राण मुद्रा प्रदर्शित करें—ओं प्राणाय स्वाहा बोले। कनिष्ठिका-अनामिका-अङ्गूठे से प्राण मुद्रा दिखाएँ। ओं अपानाय स्वाहा—यह बोलकर तर्जनी-मध्यमा-अङ्गूठे से अपान मुद्रा दिखाएँ।

इसके बाद 'ओं उदानाय स्वाहा' यह बोलकर अनामिका-मध्यमा-अङ्गूठे से उदान मुद्रा दिखाएँ।

और ॐ व्यानाय स्वाहा—यह बोलकर अनामिका-मध्यमा-अङ्गूठे से व्यान मुद्रा दिखाएँ। इसके बाद ॐ समानाय स्वाहा—बोलकर सभी अङ्गुलियों से समान मुद्रा दिखाएँ।

इसके बाद भगवती तारा को सन्तुष्ट मानकर जल प्रदान करें। मूलमन्त्र बोलकर इदं पानीयं तारा देव्यै नमः—कहें।

और इदं आचमनीयं श्रीतारादेव्यै नमः। इदं ताम्बूलं तारादेव्यै नम एष पुष्पाञ्जलिः श्रीतारादेव्यै नमः—बोलकर देवी को आचमनीय, ताम्बूल और पुष्पाञ्जलि अर्पित करें।

जपविधि

पूर्वविधि से ऋष्यादिन्यास, हृदयादिन्यास एवं करन्यास कर कर एवं ध्यान कर—

ह्रीं माले महामाले सर्वतत्त्वस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान् मे सिद्धिदा भव।।

यह पढ़कर मूल मन्त्र से माला की पूजा करें एवं यथाशक्ति जप करें। जप के बाद पुन: प्राणायामादि करें। देवी को जप निवेदन इस श्लोक से करें—

गुह्यातिगुह्यगोप्त्रीत्वं, गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देवि, त्वत्प्रसादात् महेश्वरि।।

और तेजोमय जल का ध्यान कर भगवती तारादेवी के बायाँ हस्त में जल समर्पित करें।

आठ बार पुष्पाञ्जलि प्रदान करें और स्तोत्र कवचादि का पाठ करें। प्रदक्षिणा करें। साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करें और बोलें—

ॐ इत: पूर्वं प्राणवृद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा मदीयं सकलं देव्यै ते समर्पयेत्।

इसके बाद पुष्पाञ्जलि लेकर—

ॐ मन्त्रहीनं क्रियाहीनं विधिहीनं सुरेश्वरि।
यदर्चितं मया देवि परिपूर्णं तदस्तु मे।।
आवाहनञ्च पूजाञ्च तन्माहात्म्यं जपं तथा।
विसर्जनं न जानामि श्रीदेवि तत् क्षमस्व मे।
अज्ञानाद्विस्मृतेर्भ्रान्त्या यन्न्यूनमधिकं कृतम्
विपरीतं च तत्सर्वं क्षमस्व परमेश्वरि।।

एष: पुष्पाञ्जलि: श्रीतारादेव्यै नम:—इति क्षमा याचनां कुर्वे।

ॐ गच्छं गच्छ परं स्थानं स्वस्थानं परमेश्वरि।
पूजाराधनकाले च पुनरागमनाय च।

संहार मुद्रा का प्रदर्शन कर एक पुष्प लेकर विसर्जन करें और वह पुष्प ईशान दिशा में किसी पात्र में डाल दें। उस पात्र में चण्डेश्वरी की अभ्यर्चना करें—

ॐ चण्डेश्वरि महादेवि निर्माल्यैश्चन्दनाभि: लेह्यं चोष्यम् अन्नपानादि निर्माल्यं स्रग्विलेपनम् निर्मल-भोजनं तुभ्यं ददामि श्रीशिवाज्ञया।।

इदं निर्माल्यं श्रीचण्डेश्वर्यै नम:—ऐसा पढ़कर निर्माल्य छोड़ दें। और इसके बाद कुछ देवी का नैवेद्य उच्छिष्टचाण्डाल्यै नम:—ऐसा पढ़कर उसे अर्पित करें (नैवेद्य स्वयं खा लें) इसके बाद स्तोत्रादि पाठ करें।

अथ तारा स्तोत्रम्—

मातर्नीलसरस्वति प्रणमतां सौभाग्यसम्पत्प्रदे,
प्रत्यालीढपदस्थिते शवहृदि स्मेराननाम्भोरूहे।
फुल्लेन्दीवरलोचने त्रिनयने कर्त्री कपालोत्पले,
खड्गं चादधती त्वमेव शरणं त्वामीश्वरीमाश्रये।।1।।

वाचामीश्वरि भक्तकल्पलतिके सवार्थसिद्धीश्वरि,
गद्यप्राकृतपद्यजातरचनासर्वार्थसिद्धिप्रदे।
नीलेन्दीवरलोचनत्रययुते कारुण्यवारान्निधे,
सौभाग्यामृतवर्द्धनेन कृपया सिञ्चत्वमस्मादृशम्।।2।।

खर्वे गर्वसमूहपूरिततनौ सर्पादिवेषोज्ज्वले,
व्याघ्रत्वक्परिवीतसुन्दरकटिव्याधूतघण्टाङ्किते।
सद्यः कृत गजद्रजः परिमिलन् मुण्डद्वयीमूर्द्धज–
ग्रन्थि श्रेणी नृमुण्डदाम–ललिते भीमे भयन्नाशय।।

मायानङ्गविकाररूपललनाविन्दूर्द्ध चन्द्राम्बिके,
हूँ फट्कारमयित्वमेव शरणं मन्त्रात्मिके मादृशः।
मूर्त्तिस्ते जननि त्रिधामघटिता स्थूलातिसूक्ष्मा परा,
वेदा नान्नहि गोचरा कथमपि प्राज्ञैर्नुतामाश्रये।।

त्वत्पादाम्बुजसेवया सुकृतिनो गच्छन्ति सायुज्यतां,
तस्याः श्रीपरमेश्वरत्रिनयन ब्रह्मादिसाम्यात्मनः।
संसाराम्बुधिमज्जनेऽपटतनुर्देवेन्द्रमुख्यान् सुरान्,
मातस्वत्पदसेवने हि विमुख्यान् किम्मन्दधीः सेवते।।

मातस्वद्पदपङ्कजद्वयरजोमुद्राङ्ककोटीरिणः,
ते देवा जयसङ्गरे विजयिनो निःशङ्कमङ्गे गताः।
देवोऽहं भुवने न मे सम इति स्पर्द्धां वहन्तः पराः,
तुल्यान्नियतं यथा शुचि रवी नाशं व्रजन्ति स्वयम्।।

त्वन्नामस्मरणात्पलायनपरा द्रष्टुञ्च शक्ता न ते,
भूतप्रेतपिशाचराक्षसगणा यक्षाश्च नागाधिपाः।
दैत्या दानवपुङ्गवाश्च खचरा व्याघ्रादिका जन्तवो,
डाकिन्यः कुपितान्तकश्च मनुजो मातःक्षणं भूतले।।

लक्ष्मीः सिद्धिगणश्च पादुकमुखाः सिद्धांस्तथा वैरिणां,
स्तम्भश्चापि वराङ्गने गजघटा स्तम्भस्तथा मोहनम्।
मातस्त्वद्पदसेवया खलु नृणां सिध्यन्ति ते ते गुणाः
क्लान्तः कान्त मनोभवस्य भवति क्षुद्रोपि वाचस्पतिः।

ताराष्टकमिदं पुण्यं भक्तिमान् यः पठेन्नरः।
प्रातर्मध्याह्नकाले च सायाह्ने नियतः शुचिः।।
लभते कवितां विद्यां सर्वशास्त्रार्थ विद् भवेत्।
लक्ष्मीमनश्वराम्प्राप्य भुक्त्वा भोगान् यथेप्सितान्।।
कीर्त्तिं कान्तिश्च नैरुज्यं प्राप्यान्ते मोक्षमाप्नुयात्।। *नीलतारा तन्त्रे*

श्रीताराष्टकं पठित्वा तारा कवचं, तारा हृदयं, तारोपनिषत्, ताराशतनामस्तोत्रं, तारातकारादिसहस्रनाम-स्तोत्रं पठितव्यम्।

श्रीतारा कवचं —*नील तन्त्रे*
श्रीतारा हृदयम् — *भैरवी तन्त्रे*
श्री तारोपनिषत् — *अथर्वणवेदे सौभाग्य काण्डे*
श्रीताराशत नाम स्तोत्रम् —*स्वर्णमाला तन्त्रे*
श्रीतारा तकरादिं सहस्रनाम — *ब्रह्मयामले* निबद्धमस्ति।

सामान्यतया समेषां तन्त्राणां दशाङ्गानि सन्ति ध्यानं, यन्त्रोद्धारः, मन्त्रोद्धारः, सपर्याविधिः स्तोत्रं (अष्टकारि.) कवचं, हृदयं, उपनिषत्, शतनाम स्तोत्रं, सहस्रनामस्तोत्रञ्च, सिद्धगुरुणां दीक्षितः साधकः सावधानः परिपूर्णतायै एषां समस्तानां सपर्या क्रमे—परिपालनं पाठनं स्वाध्यायञ्च करोत्यैव।

न लभते—सद्गुरोः कृपां बिना समाराधना विधिः, प्रथमं तु दीक्षामेव न प्राप्नोति। सिद्धिस्तु गुरोः कृपां बिना नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव।

भगवती श्रीतारादेव्याः सपर्या विधिरपि तत्त्वज्ञेन विदुषा, साधकेन वा अवगन्तव्येति शम्। शिवमस्तु।

साहित्यपरिषद्,
लक्ष्मणगढ़ (सीकर)
राजस्थान।

आगम तथा पौराणिक साहित्य में उपासना

डॉ. तेजनाथ पौडेल

वैदिक साहित्य और दर्शन में कर्म उपासना और ज्ञान को लेकर पर्याप्त विवेचना हुई है। वेद तीन काण्डों से युक्त है।[१] जिसमें प्रथम कर्मकाण्ड और द्वितीय ज्ञानकाण्ड तथा तृतीय उपासनाकाण्ड की साधना से साधक को अभीष्ट सिद्धि की प्राप्ति तक पहुँचाते हैं। यद्यपि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है तथापि उपासना का मार्ग साधना की दृष्टि से अत्यन्त मनोरम तथा सहज है। भावुक जन इसी मार्ग का अवलम्बन ज्ञान तथा कर्म को नि:श्रेयस का साक्षात् साधन न मानकर उपासना के ही सहायक के रूप में स्वीकार करते हैं। यद्यपि शास्त्रों में ज्ञानमार्ग के द्वारा भी ब्रह्म प्राप्ति का निर्देश किया गया है परन्तु यह मार्ग अत्यन्त दु:खद है। *देवीभागवत दुर्गासप्तशती* आदि में महाकाली–महालक्ष्मी और महासरस्वती के नाम से कर्म उपासना तथा ज्ञान की सुन्दर व्याख्या की गई है। *श्रीमद्भागवत* में भगवान् का भी ऐसा ही कथन वर्णित है।[२]

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा *गीता* ये तीन को वेद का प्रस्थानत्रयी माना गया है। इन सभी ग्रन्थों में भी कर्म और उपासना परम लक्ष्य प्राप्ति के लिए आवश्यक माना गया है। शास्त्रविहित उपासना बिना मानव के आत्मकल्याण की प्राप्ति करना अत्यन्त कठिन है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार "उपगम्य आसनम् इति उपासना" अर्थात् समीप जाकर बैठने को ही उपासना कहा जाता है।[३] परन्तु समीप जाकर बैठने मात्र से उपासना शब्द का सम्पूर्ण भाव प्रकाशित नहीं होता। किसी के समीप जाकर उसके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करके उस उपास्य देवता के उत्तम गुणों को ग्रहण करना ही उपासना है। जिस प्रकार अग्नि की उपासना करने पर उसके उष्णत्व आदि गुण आ जाते हैं उसी प्रकार अपने उपास्य देव के समीप में बैठने पर

---

१. काण्डत्रयात्मको वेद:।

२. (क) मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप:।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम:।। — *देवीभागवतम्,* 7.37.3.
(ख) योगास्त्रयो मया प्रोक्ता: नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।। — *भागवतम्* 1.20.6.

३. 'आस् उपवेशने' (*अदादि.* आ. से) धातु से 'ण्यसश्रन्थो युच्' (*पा.सू.* 3.3.107) से युच् प्रत्यय होकर 'यु' के स्थान में 'युवोरनाकौ' (*पै.सू.* 7.1.1) सूत्र से अन होने पर उप के साथ समास होकर टाप् होने पर उपासना शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ भाव में प्रत्यय होने के कारण नपुंसकलिङ्ग होना चाहिए परन्तु ... स्त्रियां क्तिन्... (*अष्टा.* 3.3.93) के अधिकार होने से स्त्रीलिङ्ग होकर 'टाप्' हो जाता है।

उस देव में अवस्थित सम्पूर्ण गुण उपासक में आने चाहिए यही सच्ची उपासना है। वैदिक उपासना का भी यही ध्येय वाक्य है।[४] इस प्रकार उत्तम गुण धारण करना ही उपासना है, महापुरुषों के गुणों को धारण करने के लिए महापुरुषों की उपासना की जाती है, इसलिए समावर्तन संस्कार के प्रसङ्ग में स्नातक को उपदेश देते हुए आचार्यप्रवर कहते हैं, "हे स्नातक तुमने हमारे में जो उत्तम गुण देखा उसी की उपासना करो अन्य की नहीं।"[५] यही उपासना का सर्वोत्तम आदर्श है। उपास्य में उपासक से श्रेष्ठता निहित रहती है। वह उपासक के लिए आदर्श रूप होता है। वैदिक ऋषियों के समक्ष भी इन्द्र, अग्नि, उषस्, सोम आदि देवता आदर्श रूप थे इसलिए उन लोगों की उपासना की कथा वेदों में वर्णित है। इस प्रकार उपासना विभिन्न नामों से करने पर भी उसका अन्तिम लक्ष्य एकमात्र सर्वशक्ति सम्पन्न परमात्मा ही होता है। वही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम और मातरिश्वा है।[६] इस प्रकार किसी भी देवता की उपासना करने पर भी स्वत: शक्तिसम्पन्न परमात्मा की उपासना हो जाती है। उपासना प्रार्थना के माध्यम से की जाती है। प्रार्थना का अर्थ है अपने इष्ट देवता के गुणों की बारम्बार चिन्तन और ध्यान करना। मनुष्य मन में जिसका ध्यान करता है, उसी को वाणी रूप में प्रकट करता है जो वाणी से बोलता है उसी को कर्म द्वारा करता है कर्म द्वारा जो करता है वह वही बन जाता है।[७] यही प्रार्थना से लेकर उपासना तक की गतिविधि मानी गई है। इसीलिए मानव मात्र को अपने उपास्य देव का चयन करते समय अत्यन्त सावधानीपूर्वक विचार करके ही चयन करना चाहिए। इसके लिए सर्वगुण सम्पन्न सर्वशक्तिमान् परमात्मा को ही अपने उपास्य देव मानकर सभी धर्म को छोड़कर शरणागति धर्म का अवलम्बन करना सर्वोत्तम उपाय है—**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज**। यह शरणागति (प्रपत्ति) भक्ति (1) भगवदनुकूलता स्वीकार, (2) प्रतिकूलता अस्वीकार, (3) उनके रक्षा करने पर विश्वास, (4) केवल भगवान् का वरण (स्वीकार), (5) आत्मनिक्षेप और (6) दैन्य कर छ: प्रकार का माना गया है।[८] यह ही सम्पूर्ण पापों से सरलतापूर्वक छूटने का उपाय है। जो ब्रह्ममय बन जाता है वह ही ब्रह्मचर्य का पथिक है।[९] श्रुति का भी यही कथन है। विद्वान् लोग सर्वप्रथम स्वयं पूज्य बन गए तदनन्तर उस पूज्यतम महान् देव की पूजा की।[१०] भगवान् की पूजा करने के लिए स्वयं अपने को उसके योग्य बनना चाहिए। इसके लिए हम लोगों

---

४. यद् देवा: अकुर्वन् तत् करवाणि। — *गोपथब्राह्मण*।

५. यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि। — *तैत्तिरीयोपनिषद्,* 1.11.2.

६. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा: बहवो वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:।। — *ऋग्वेद:*, 1.164.46.

७. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।। — *गीता* 18.66.

८. अनुकूल्यस्य सङ्कल्प: प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षयिष्यति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागति:।। — *अहिर्बुध्न्यसंहिता / यतीन्द्रमतदीपिका।*

९. ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।। — *गीता* 4.24.

१०. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा: तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। — *ऋग्वेद* 1.164.50.

के सम्पूर्ण दुष्ट भावों का नाश होने के साथ हममें सद्गुण और सद्भाव आने आवश्यक हैं।[११] परमात्मा स्वयं सद्गुण के निकर हैं, उनको सद्गुण द्वारा ही स्वानुकूल कर सकते हैं अनन्य भक्ति से ही मनुष्य उनके समीप पहुँच सकता है, वह परमात्मा हम लोगों को आत्म शक्ति और शारीरिक शक्ति प्रदान करते हैं।[१२] ऐसे परमात्मा की उपासना सम्पूर्ण संसार करता है।[१३] परमात्मा इस संसार का उत्पादक और व्यवस्थापक है। अत: इस संसार के कणकणों से इनकी महिमा गायी गई है। इसी कारण महात्मा लोग इस संसार के प्रत्येक पदार्थ में परमात्मा का दर्शन करते हैं। सर्वत्र परमात्मा का दर्शन अनन्य उपासना का परिणाम है। इनकी अनुशासन में ही सभी देवतागण अपने-अपने कार्य करते हैं।[१४] सभी लोग इनकी आज्ञा का पालन करते हैं।[१५] ऐसे सर्वनियन्ता के छाया में रहना ही अमृतत्व है और इनसे दूर रहना ही मृत्यु है। यह सर्वत्र उपलब्ध होते हुए भी इनको प्राप्त करना सरल नहीं है। इनको प्राप्त करने के इच्छुक साधक, तपस्वी, शीतोष्णादि सहनशील एवं सुख-दु:ख में समभाव रखने वाला परमात्मा का उपासक होना चाहिए।[१६]

उपासना शब्द का अर्थ

शब्दकल्पद्रुम, मेदिनीकोश, अभिधानचिन्तामणि इत्यादि कोश ग्रन्थों में 'उप' उपसर्गपूर्वक 'आस्' धातु से निष्पन्न यह उपासना शब्दस्थ 'उप' यह उपसर्ग—सेवा, पूजा, उपचर्या, सामीप्य, सामर्थ्य, व्याप्ति, आचार्यकृति, भृति दोष, दान, क्रिया, वीप्सा, आरम्भ, अध्ययन, अनुकम्पा, आधिक्य, हीन, प्राथम्य, अत्यय, भूषण, निदर्शन, आश्चर्यकरण आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[१७] वेद उपनिषद् आदि शास्त्रों में उपर्युक्त अर्थ के साथ-साथ प्रत्यय विशेष युक्त होकर रूपान्तरित अवस्था में यत्र-तत्र प्रयोग किया गया

---

११. विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव। — *ऋग्वेद:* 5.82.5.

१२. आत्मदा बलेन। — *ऋग्वेद:* 10.121.2.

१३. विश्व उपासते। — *ऋग्वेद:* 10.121.2.

१४. प्रशिषं यस्य देवा:। — *ऋग्वेद:* 10.121.2.

१५. भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्य:। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम:।। — *कठोपनिषत्* 2.3.3.

१६. अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते। शृतास इद्वन्त: तत् समासत। — *ऋग्वेद:* 9.83.9.

१७. (क) *शब्दकल्पद्रुम:*।

(ख) उप सामीप्यसामर्थ्यव्याप्त्याचार्यकृतौ भृतौ।
दोषदानक्रियावीप्सारम्भाध्ययनपूजने।। — *हेमचन्द्र:, मेदिनी, अभिधानचिन्तामणि:, उपसर्गभाष्यम्।*

(ग) उपासनेऽधिके हीने सादृश्यप्रतियत्नयो:। उद्योग व्याप्तिपूजासु शक्तावारम्भदानयो:।। — *अपसर्गार्थसंग्रह:* 19.

(घ) उपसामर्थ्यादाक्षिण्ये दोषाख्यानात्ययेषु च। आचार्यकरणे दाने व्याप्तावारम्भपूजयो:।
तद्योगेऽपि च वीप्सायां भरणार्थोपमानयो:। उपो हीनेऽधिके प्रोक्तोऽप्यासन्नेऽप्युपकीर्तित:।।
— *विश्वप्रकाशकोश:*, अव्ययप्रकरणम्।

है।[१८] इसके अतिरिक्त *वाल्मीकीय रामायण* में यह शब्द समीप[१९] और समय व्यतीत करने[२०] अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत में बार-बार शरानुसन्धान, शराभ्यास आदि अर्थ में प्रयुक्त मिलता है।[२१] *श्रीमद्भगवद्गीता* में सेवा भक्ति अर्थ में,[२२] *श्रीमद्भागवत* में पूर्ण भक्ति से प्रसन्न कराने,[२३] पूजा भक्ति,[२४] प्रेमपूर्वक भजन,[२५] ध्यान,[२६] सेवा,[२७] और पूजा[२८] आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। *रघुवंश* और *कुमारसम्भव* में उपासना शब्द पूजा, सेवा और उपस्थित होने के अर्थ में प्रयुक्त है।[२९] इसके अतिरिक्त *नीतिशतक*,[३०] *मृच्छकटिक*,[३१] *नैषधीयचरितम्*,[३२] *भट्टिकाव्य*,[३३] *पञ्चदशी* आदि ग्रन्थों में भी उपासना अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

---

१८. अर्चा शक्राय शकिने। (*ऋ.* 1.54.2); वन्दाम हे त्वा (*ऋ.* 3.8.9); मरुतवन्त सख्याय हवामहे (1.101.6); भर्गोदेवस्य धीमहि (*ऋ.* 3.62.10); अग्निं विश इळते (10.80.6); अग्ने: स्तोमं मनामहे (*ऋ.* 5.13.2); यो दवमुत्तरावन्तमुपाससतै सनातनम् (*अथर्ववेद:* 10.8.22); ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तप: (*तैत्तिरीयोप.* 10.8); त्र्यम्बकं यजामहे (*ऋ.* 6.59.12); यस्य देवे पराभक्ति: (*श्वेताश्वतरोप*, 6.23)।

१९. उपासां चक्रिरौ वीरौ यत्तु परमधन्विनौ। — *वा.रा.* 1.30.6.

२०. उपास्य रात्रिशेषं तु। —तत्रैव 1.35.1.

२१. *महाभारतम्*, आदिपर्व:।

२२. अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं चैव स्थैरर्यमात्मविनिग्रह:।। — *गीता* 13.7.

२३. उपासितो यत् पुरुष: पुराण:। — *भागवतम्* 1.5.6.

२४. त्वत्पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम्। उपासते कामलवाय तेषाम्।। — *भागवतम्* 3.21.14.

२५. कोऽपि प्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासते स्वे हृदि छिद्रवत्सत्:। — *भागवतम्*, 7.7.3.

२६. उपासते योगरथेन धीरा:। — *भागवतम्* 7.5.29.

२७. राज्यं उपासितव्यम्। — *भागवतम्* 10.73.14.

२८. चन्द्रतारका उपासिता:। — *भागवतम्* 10.84.12.; इन्द्रस्यानुपासते। — *भागवतम्*, 11.21.32.

२९. विभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बितम्। पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया।। — *रघुवंश.* 10.62.
ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं वासुकीप्रमुखा निशि। स्थिरप्रदीपतामेत्य भुजङ्गा पर्युपासते।। — *कुमारसम्भवम्* 2.38-40.

३०. दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति यति: सङ्गात्सुतो लालनात्। विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुलनयनयात् शीलं खलोपासनात्।
— *नीतिशतक* 1.33.; *पञ्चतन्त्र*, 1,.180.; *सुभाषितभाण्डागार* 3.13.100.

३१. अनेन चिरसङ्गीतोपासनेन ग्रीष्मसमये...सुधीममाक्षिणी खटखटायते। — *मृच्छकटिकम्* 1.8 के बाद।

३२. उपासनामेत्य पितु:स्म रज्यते। — *नैषधीयचरित.* 1.34.

३३. उपासां चक्रिरे द्रष्टुं देवगन्धर्वकिन्नरा:। — *भट्टिकाव्य.* 5.107, 7.87.

उपासना के भेद

उपासना शब्द का समीप में जाना (बैठना) यह शाब्दिक अर्थ होते हुए भी यह शब्द परिचर्या, पूजादि में पर्यवसित होने के सम्बन्ध में ऊपर ही चर्चा की गई है। पूजा परमात्मा की की जाती है, जो अखण्ड, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और निराकार है। हम जीवात्मा सखण्ड, एकदेशी, अल्पज्ञ और साकार हैं। इस प्रकार सखण्ड साकार के द्वारा अखण्ड, निराकार के समीप में बैठने या उपासना करने सम्बन्धी काम सङ्गत न होने के कारण वेदादि, शास्त्रों ने प्रतीकोपासना का विधान किए हैं। जिसकी पूजा सम्भव नहीं है उसका कोई प्रतीक, प्रतिनिधि, मूर्ति या अङ्ग में उपासक अपने आपको स्थिर करके उसकी पूजा के माध्यम से उपास्य की उपासना करनी चाहिए। यह उपासना 1. सत्यवती, 2. अङ्गवती, 3. अन्यवती और 4. निदान के नाम से चार प्रकार की मानी गई है—

1. **सत्यवती**—दृष्टि जहाँ या जिस वस्तु में अवस्थित है, उसी की भावना अङ्ग में दृष्टि पहुँचती है, उसी को भाविक कर हृदयङ्गम करना सत्यवती उपासना है। ईश्वर सर्वव्यापक है। इस भावना द्वारा व्यापक दृष्टि का अनुगमन करना योग है और यह योग ही सत्यवती उपासना है। ऐसे योगी को न्यायदर्शन में युञ्जान योगी कहा गया है।

2. **अङ्गवती**—जिस उपासना में दृष्टि अङ्ग में तथा बुद्धि अङ्गी में होती है उसको अङ्गवती उपासना कहते हैं। उदाहरण के लिए वेदान्त के वैश्वानर को लिया जा सकता है। वैश्वानर के द्यु, आदित्य, वायु, आकाश, अप् और पृथ्वी ये छः अङ्ग हैं। षडङ्ग का समष्टि कृत्स्न वैश्वानर है, इसलिए यह छः अङ्गी हैं। यह छः अङ्ग में से किसी एक अङ्ग में दृष्टि को अवलम्बन करके उसके द्वारा वैश्वानर की भावना करना अङ्गवती उपासना है। इसी को **प्रतीकवती** उपासना भी कहा जाता है।

3. **अन्यवती**—जिस उपासना में दृष्टि अन्य में तथा बुद्धि अन्य में होती है, उसको अन्यवती उपासना कहा जाता है। यह अन्यवती उपासना ही मूर्ति निर्माण और उसके द्वारा ईश्वर की उपासना का मूल कारण है। दृष्टि स्थिरतापूर्वक मन की स्थिरता के लिए किसी भी अभिलषित धातु, पाषाण आदि बिम्बों में दृष्टि निक्षेप कर उसमें उपास्य की मूर्ति रखकर ज्ञान (प्रत्यय) को प्रवाहित करना ही अन्यवती उपासना है।

4. **निदानवती**—निदानवती उपासना के मूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में निदान शब्द अत्यधिक प्रयोग हुआ है। प्रकृति में प्रतिमेय की भावना अन्यवती उपासना है। परन्तु प्रतिमा-प्रतिमेय भाव साकार सगुण वस्तु में मात्र सीमित है। निराकार वस्तु की प्रतिमा प्रतिकृति नहीं हो सकती इसीलिए निर्गुण निराकार वस्तु के ज्ञान और उपासना के लिए निदानवती उपासना का आविष्कार किया गया है। वेदों में इसका प्रयोग और व्यवहार अनेक स्थलों में हुआ है। अमुक वस्तु का अमुक मान होने पर अमुक निदान है, इस तरह का प्रयोग

हुआ है। मृगचर्म को त्रयीविद्या मानना चाहिए। इस प्रकार का सङ्केत वेद में व्यवहृत निदान है अर्थात् अमूर्त विद्या का निदान मृत मृगचर्म हुआ है।

प्रतीकोपासना परमात्मा के प्रति मनुष्य का व्यावहारिक एवं स्वाभाविक श्रद्धा में आधारित है। जब मनुष्य को सृष्टि के विषय में सर्वत्र परमात्मा की सत्ता का विश्वास हो जाता है, उस समय परमात्मा के कर्म और गुण को देखकर परमात्मा के सामने वह स्वत: नतमस्तक हो जाता है। परमात्मा सर्वव्यापक और स्वयं उपासक एकदेशीय है। इस बात का ज्ञान हो जाने के बाद उसके सामने दो विकल्प रहते हैं। एक सर्वव्यापक उपास्य की उपासना असम्भव होने के कारण उपासना का सर्वथा त्याग या दूसरा परमात्मा की एकदेशीय उपासना।यहाँ से प्रतीकोपासना का प्रारम्भ होता है। ज्ञानवान् पुरुषों के लिए ये दो उपासना के अतिरिक्त अद्वैत के रूप में तृतीय दृष्टिकोण भी उपलब्ध है। इस अद्वैत मतानुसार सम्पूर्ण जगत् उसी परमात्मा का स्वरूप विकास होने के कारण उसके अतिरिक्त वस्तु इस संसार में नहीं है। हम लोग भी उसी के अंश हैं। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा अभेद होने के कारण उपास्य उपासक में भेद नहीं रह जाता है। उपासना की आवश्यकता भी नहीं होती। परन्तु यह पक्ष परमार्थिक दृष्टिकोण से समुचित[३४] होते हुए व्यावहारिक नहीं है। व्यवहार में मनुष्य अपने से अभिन्न होते हुए भी उस परमात्मा को भिन्न रखकर, सर्वत्र सुलभ होते हुए भी एकदेशी बनाकर उपासना करना चाहता है, क्योंकि वह स्वयं एकदेशी है। उपासक यह जानता है कि उसका उपास्य सर्वव्यापक है तथा वह एकदेशी है, उसका ध्यान का विषय सीमित हो सकता है परन्तु उसका उपासक असीमित और अखण्ड है। उसकी उपासनाएँ खण्ड-खण्ड है। उसकी सर्वव्यापक पूजा और सभी दिशाओं में एक ही साथ नमस्कार करने में वह असमर्थ है। अत: अगत्या उसके द्वारा एकदेशीय पूजा करनी चाहिए। इस अवस्था में उपास्य को उपासना करने के भाव में अपने आपको किसी एकदेश में रखना पड़ता है या स्वयं अपने को रखता है। इसी अवस्था में उषगम्य आसन (समीप स्थिति) नाम सार्थक हो जाता है। अन्यथा एकदेशी मनुष्य उस सर्वव्यापक के 'उप' अर्थात् समीप में किस प्रकार पहुँच सकता है? ऐसी परिस्थिति में प्रतीकोपासना के अतिरिक्त दूसरे प्रकार से उसकी उपासना भी नहीं की जा सकती। यही उपासना का रहस्य है।

---

३४. (क) न विष्णूपासना नित्या वेदे नोक्ता तु कुत्रचित्।
न विष्णुदीक्षा नित्यास्ति न शिवस्यापि तथैव च।।
(ख) शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्। मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशय:।।
विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्ययात्। देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचित् भजाम्यहम्।। — *पञ्चदशी*, तृप्ति: 230.

आगम और पुराण में उपासना

आचार्यों ने आगम को वेद का ही सार माना है। इस शास्त्र को भगवान् शङ्कर माता पार्वती को तत्त्वज्ञान के उपदेश देने के क्रम सन्दर्भ में प्राणिमात्र के हितार्थ कलियुग में जीवों के लिए निगम (वेद) के समान आगमशास्त्र की रचना की गई थी, ऐसा आख्यान प्रसिद्ध है। इस शास्त्र में निगम की तरह मुमुक्षु मनुष्यों के लिए विषयभोग त्याग की आवश्यकता नहीं है। वैदिक उपासना में अधिकारी की अपेक्षा किया गया है, अर्थात् अधिकारी की परिचर्चा की गई है। यज्ञोपवीत संस्कारयुक्त त्रैवर्णिक ही इसका अधिकारी माना गया है। श्रुतिपथरहित अवैदिक के लिए भी तन्त्रशास्त्र का उपदेश किया गया है।[३५] आगमशास्त्र के अनुयायियों के लिए प्रेय (भोग) और श्रेय (मोक्ष) दोनों एक साथ प्राप्त करने का सुगम मार्ग निर्देशन किया गया है।[३६] इस आगमशास्त्र में तुच्छ-से तुच्छ वस्तु से लेकर उत्तम से उत्तम वस्तु तक तथा निकृष्ट से निकृष्ट कार्य से लेकर उत्कृष्ट कार्य का सुन्दर वर्णन किया गया है। इस शास्त्र द्वारा सभी वर्ण और आश्रम के मनुष्य लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करने में पूर्ण सफल हो सकते हैं। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक किसी भी प्रकृति का मनुष्य हो, इससे यथेष्ट रूप से लाभ ले सकता है।

शिव के मुख से निकल कर पार्वती के मुख होते हुए उनके हृदय में धारण किए गए शास्त्र को आगमशास्त्र कहा जाता है।[३७] यह सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, सर्वसाधना, पुरश्चरण, षट्कर्म साधना और चार प्रकार के ध्यान योग सहित सात लक्षण से युक्त माना गया है।[३८] आगम के तीन भेद माने गए हैं—(क) तन्त्र, (ख) यामल, (ग) डामर। इसमें सात्त्विक उपासना को तन्त्र, राजस को यामल और तामस को डामर कहा जाता है। कुछ विद्वान् लोग (क) आगम, (ख) यामल और (ग) तन्त्र—ये तीन विभाग करके आगम और तन्त्र की भिन्न-भिन्न विधा का उल्लेख किए हैं। आगम और तन्त्र साहित्य में भी रुद्र, शिव, श्री, लक्ष्मी, सरस्वती, भवानी, काली, दुर्गा आदि विभिन्न देवी-देवताओं के साकार विग्रह एवं विविध विधानमयी उपासना तथा मन्त्र और मन्त्र विधान सम्बन्धी विषयों की सुन्दर विवेचना की गई है।[३९]

---

३५. श्रुतिपथगलितानां मानुषाणां तु तन्त्रं गुरुगुरुरखिलेशः सर्ववित् प्राह शम्भुः।
श्रुतिपथनिरतानां नैव तन्त्रेऽस्ति किञ्चिद् हितकरमिह सर्वं पुष्कलं सत्ययुक्तिम्।। — *सूतसंहिता* 8.25.

३६. यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षः यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।।

३७. आगतः शिववक्त्रेभ्यो गतश्च गिरिजामुखे। मग्नस्तस्याः हृदम्भोजे तस्मादागम उच्यते।।

३८. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानामथार्चनम्। साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च।।
षट्कर्मसाधनं चैव तथा योगश्चतुर्विधः। आसप्तलक्षणैयुक्तमागतं तद्विदुर्बुधाः।। — *शब्दकल्पद्रुमः*।

३९. आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः। न हि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्ये विधानतः।। — *विष्णुयामलम्*।

पुराणों में यह सगुणोपासना का साधन मार्ग सामान्यजन के हित की दृष्टि से अत्यन्त सरल, सरस एवं सात्त्विक प्रकार से भक्ति और लोक कल्याण को प्रधानता देते हुए सभी देवी-देवताओं के लिए अलग-अलग रूप में सविस्तार वर्णन किया गया है।[४०] इस प्रकार पौराणिक उपासना सभी देवताओं की की जा सकती है। पौराणिक उपासना अवतार विशेष की भी की जा सकती है। भगवान् विष्णु के अवतार प्रधान दश माने गए हैं।[४१] इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक नामरूपों द्वारा पौराणिक उपासना करने का प्रचलन यत्र-तत्र देखने को मिलता है। यथार्थ में पूर्ण ब्रह्म ही सकलशास्त्रों का तात्पर्य का विषय है और उसका अपरोक्ष साक्षात्कार ही जीवन का परम लक्ष्य है। परन्तु प्रारम्भ में ही मनुष्य का मन इस परम दुरवगाह्य मनोवचनातीत स्वरूप में प्रवेश करने में समर्थ नहीं होता। इसलिए भक्तों के अनुग्रह के लिए ही परमप्रभु अनेक प्रकार के मंगलमय स्वरूपों को धारण करते हैं। जो भगवान् गणेश के रूप में ऋद्धि-सिद्धि शक्तियों सहित उपासकों के सर्वविघ्नों का हरण करते हैं।[४२] वहीं भगवान् भास्कर के रूप में उपास्य होकर उपासकों के सम्पूर्ण रोग निवारण करते हैं[४३] और वह ही भूतभावन भगवन् शङ्कर,[४४] विष्णु,[४५] राम,[४६]

---

४०. (क) ध्यायेन येनाखिलदेवभेदां पूर्णा: भविष्यन्ति मनोऽभिलाषा:। — *गणेशपुराणम्*, उपासनाखण्ड: 21/8.
(ख) त्वमेक: सर्वजगत: ईश्वरो बन्धमोक्षयो:। तं त्वामर्चन्ति कुशला: प्रपन्नार्तिहरङ्गुरुम्।। — *भागवतम्* 8.7.22.
(ग) तत्कृतं हि जगत्सर्वं ब्रह्मणास्तस्य किङ्करा:। — *शिवपुराणम्*, वा.सं. 34.38.
(घ) लक्ष्मीप्रदानसमये नवविद्रुमाभां विद्याप्रदानसमये शरदिन्दुशुभ्राम्।
विद्वेषवर्गविजये हरिनीलवर्णामम्बां त्रिलोकजननीं प्रजनीं प्रपद्ये।।
(ङ) अच्युतानन्दगोविन्द इति नामत्रयं हरे:। यो जपेत् प्रयतो भक्त्या प्रणवाद्यं नमोन्तकम्।।
तस्य मृत्युभयं नास्ति विषरोगाग्निजं महत्। नामत्रयं महामन्त्रं जपेत् य: प्रयतात्मवान्।।
कालमृत्युभयं चापि तस्य नास्ति किमन्यत:। — *पद्मपुराणम्*, उत्तरखण्ड: 232.19-21.

४१. मत्स्यकुर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्ध: कल्किस्तत: स्मृत:।। — *पद्मपुराणम्*

४२. *गणेशपुराणम्*, उपासनाखण्ड: 21.8.

४३. तत: शापाभिभूतेन सम्यगाराध्य भास्करम्। साम्बेनाप्तं तथारोग्यं रूपं च परमं पुन:।। — *भविष्यपुराणम्*, ब्रह्मवैवर्त. 73.49.

४४. सत्यं ज्ञानमनन्तश्च चिदानन्द उदाहृत:। निर्गुणो निरूपाधिश्च निरञ्जनोऽव्ययस्तथा।।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तदेव प्रथमं प्रोक्तं ब्रह्मैव शिवसंज्ञितम्।। — *शिवपुराणम्*, ज्ञानाध्याय: 74.

४५. धन्यास्ते पुरूषा: लोके येऽर्चयन्ति सदा हरिम्। सर्वपापहरं देवं सर्वकामफलप्रदम्।।
ब्रह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: स्त्रिय: शूद्रान्त्यजादय:। सम्पूज्य तं सुरवरं प्राप्नुवन्ति परां गतिम्।। — *ब्रह्मपुराणम्* 226.13-14.

४६. (क) रामेति मन्त्रराजोऽयं भवव्याधिर्निषूदक:। — *पद्मपुराणम्*।
(ख) रामनामजपतां कुतो भयम् सर्वतापशमनैकभेषजम्। पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।
— *पद्मपुराणम्*।

कृष्ण[४७] आदि रूपों में उपासित होकर सर्वसिद्धि प्रदान करते हैं। गीता में कहा गया है—अव्यक्त चित्त की एकाग्रता करने वाले सिद्ध लोगों को अत्यन्त कष्टदायक होता है क्योंकि अव्यक्त गति को प्राप्त करना देहेन्द्रियधारी मनुष्यों के लिए स्वभावत: कष्टप्रद होता है।[४८] इसलिए कल के माध्य से निराकार को साकाररूप देकर समझाना सगुणोपासना का प्रमुख उद्देश्य है। अवाङ्मनसगोचर परमात्मा भाव के आश्रय से व्यक्तित्व विशिष्ट बन जाता है। अत: नारायण ऋषि ने सर्वप्रथम परमात्मा को पुरुष संज्ञा देकर पुरुषसूक्त जैसा कलापूर्ण उक्ति संसार को प्रदान किया।[४९]

अहंब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) की उपासना से प्रतीकोपासना मार्ग सरल और सुगम बताया गया है। प्रतीकोपासना में बाह्य पदार्थ में पदार्थ की दृष्टि हटाकर उसके स्थान में ब्रह्म का मनन, चिन्तन और निदिध्यासन किया जाता है। इसमें किसी आकार विशेष की सहायता लिया जाता है। इसलिए इस प्रतीकोपासना को साकारोपासना भी कहा जाता है। इसलिए भगवान् वेदव्यास ने प्रतीकोपासना वाला प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि निक्षेप करना पड़ता है, कहा है।[५०] इसी को शास्त्रकारों ने *अरुन्धतीप्रकाशन्याय* के रूप में व्याख्या की है। इस न्याय का भाव यह है कि—आकाश में अरुन्धती नाम का एक छोटा-सा तारा होता है। यदि कोई मनुष्य अरुन्धती तारा को देखना चाहता है तो उसको अरुन्धती तारा के समीप में अवस्थित बड़े तारों को देखना पड़ता है। जब उसकी दृष्टि उस बड़े तारा में एकाग्र होती है उसके बाद उसके समीप में स्थित छोटे-छोटे ताराओं को देखने के बाद उसी बीच में अवस्थित अरुन्धती तारा तक उसकी दृष्टि पहुँचायी जाती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतीक और प्रतिमाओं ने सगुणोपासना के माध्यम से मनुष्य को ईश्वर तक पहुँचा देते हैं। शास्त्रों में अनेक स्थानों में उपासना का अर्थ निरन्तर स्मरण करना कहा गया है। यही स्मरण प्रगाढ़ होकर दर्शन का रूप धारण करता है। इसलिए भक्तराज प्रह्लाद ने इसी प्रकार की उपासना का मार्ग करते हुए भगवान् से कहते हैं—जिस प्रकार की तीव्र आसक्ति अविवेकी पुरुषों के इन्द्रिय विषयों में होता है, उसी प्रकार की तीव्र आसक्ति मेरे हृदय में आपके स्मरण करते समय आती रहे।[५१] इस अवस्था को शास्त्रों में तदर्थ संस्थान कहा है। उपास्य का सतत चिन्तन के कारण ही उपासक को अपना जीवन मधुर प्रतीत होता है और इस प्रकार की सगुणोपासना के माध्यम से हम लोग भोगी से योगी, पापी से पुण्यात्मा और नर से नारायण बन

---

४७. श्रीकृष्णनामामृतमात्मह्लादं प्रेम्णा समास्वादनमङ्गिपूर्वम्। यत् सेव्यते जिह्विकया विरामं तस्यातुलं जल्पतु को महत्त्वम्।। पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु नरा भयम्। गोविन्दनाममेघौघैर्नश्यते नीरबिन्दुभि:।। — *हरिभक्तिविलास:* 11.316.

४८. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। व्यक्ता हि गतिर्दुखं देहवद्भिरवाप्यते।। — *गीता* 12.5.

४९. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्त्वस्येशानो यदन्ने नातिरोहति।। — *पुरुषसूक्त.* 2.

५०. ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्। — *ब्रह्मसूत्रम्*।

५१. या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरत: सा मे हृदयान्नापसर्पतु।। — *विष्णुपुराणम्* 1.20.19.

सकते हैं। ऐसी उपासना की कामना तो साधारण मनुष्य ही नहीं अपितु बड़े-बड़े देवता, मुमुक्षु और ब्रह्मवादी द्वारा भी की जाती है।[५२] सभी साध्य-साधन सिद्ध प्रभु रूप ही हैं।[५३]

इस प्रकार के उपासना के प्रभाव से हमारा जीवन इसी भौतिक शरीर में रहते हुए भी दिव्य जीवन में रूपान्तरित होने लगता है। इसका प्रभाव हमारे बाह्य जीवन में भी पड़ने लगता है। इस प्रकार भगवान् की उपासना हमारे सामाजिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। सर्वत्र भगवद्भाव होने से उपासक में स्वार्थ वृत्ति निवृत्त होकर परार्थ वृत्ति का उदय हो जाता है। तुच्छ, क्षुद्र, स्वार्थी तथा अहंभाव विस्तार होने पर उपासक स्वकल्याण ही विश्वकल्याण के भाव से देखता है परन्तु ज्ञानी उपासक द्वारा विश्व का सत्कल्याण हो सकता है। ऐसे ज्ञानी लोगों के साधारण बात में भी विश्व कल्याण की भावना रहती है। ऐसे महान् जन स्वयं से दुस्तर संसार से पार होकर अपनी निस्वार्थ बुद्धि के द्वारा दूसरों को भी भवसागर से पार कराते हुए इस अवनीतल में वसन्त ऋतु के समान लोक कल्याण कर निवास करते हैं।[५४] ऐसे महापुरुष के कारण उनका कुल पवित्र होता है, जन्मदात्री माता कृतार्थ तथा जन्मभूमि पुण्यवती होती है।

असिस्टेन्ट प्रोफेसर (संविदा),
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान (मानितविश्वविद्यालय),
श्रीरणवीरपरिसर, जम्मू

---

५२. यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च। — *नृसिंहपूर्वतापनी* उपनिषदि 5.2.15.

५३. हरिदेव जगत् जगदेव हरि: हरितो जगतो न हि भिन्नतनु:।
इति यस्य मति: परमार्थगति: स नरो भवसागरमुत्तरति।।

५४. शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्त:।
तीर्णा: स्वयं भीमभवार्णवं जनान्, हेतुनान्यानपि तारयन्त:।। — *विवेकचूडामणि:* 38.

सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः

डॉ. कमलाकान्तत्रिपाठी

सत्त्व की शुद्धि होने पर ही मोक्षसाधनीभूत परमेश्वरविषयक भक्ति का उदय होता है। ध्रुवा स्मृति को ही भक्ति कहते हैं। आचार्यों ने भक्ति को ही उपासना और ध्यान कहा है। सत्त्व की शुद्धि में आहार की शुद्धि को छन्दोगों ने आवश्यक बतलाया है[१]—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

आहार जब शुद्ध रहेगा तभी सत्त्व की शुद्धि होगी। 'सत्त्व' से यहाँ अन्तःकरण को समझना चाहिये। सत्त्व जब शुद्ध नहीं रहेगा तो शान्ति कैसे सम्भव है? आज शान्ति के जो उपाय राजनीति में प्रस्तावित है वे शास्त्रों से संवाद नहीं स्थापित करते। क्यों शास्त्रों को अछूत मान लिया गया है? यदि शास्त्र शान्ति के उपायों को आदर के साथ परोस रहे हैं तो उन्हें स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है? बड़े-बड़े आप्त पुरुषों के द्वारा जो भगवान् के रूप में स्वीकार किये गये हैं उनकी बात पर तो विश्वास करना ही चाहिये। श्रीभगवान् कहते हैं कि अशान्त को सुख सपने में भी प्राप्त नहीं होगा[२]—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाऽयुक्तस्य भावना।
न चाऽभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।

इसकी व्याख्या भगवान् श्रीरामानुजाचार्य इस तरह करते हैं[३]—

'मयि संन्यस्तमनोरहितस्य स्वयत्नेनेन्द्रियनियमने प्रवृत्तस्य कदाचिदपि विविक्तात्मविषया बुद्धिर्न सेत्यस्यति। अत एव तस्य तद्भावना न संभवति। विविक्तात्मानमभावयतो विषयस्पृहाशान्तिर्न भवति। अशान्तस्य विषयस्पृहायुतस्य कुतो नित्यनिरतिशयसुखप्राप्तिः?'

श्रीभगवान् में संन्यस्त अर्थात् विषयों से पराङ्मुख मन को लगाना है। सकल वेद ऐसा ही कहते हैं। मन यदि कामिनीकुचकलसनितम्बादि में लगा है तो भगवान् में उसे कैसे लगाया जा सकता है? कुक्कुटकुक्कुटाण्ड आदि अभक्ष्य पदार्थों में लगा है तो वह दिव्य रस का आस्वादन कैसे कर सकता है? इससे सिद्ध होता है कि

---

१. *छान्दोग्योपनिषद्*, 7.26.2

२. *श्रीगीता*, 2.66

३. तत्रैव।

निषिद्ध और काम्य कर्मों से मन को हटाया जाय। निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से चित्तविक्षोभपूर्वक अनर्थ की संप्राप्ति आवश्यक है। काम्य कर्मों से अनर्थ की प्राप्ति तो नहीं होगी, किन्तु चित्त में विक्षोभ अवश्य होगा। अत: काम्य का वर्जन भी आवश्यक है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों से पापापचयद्वारा चित्त का विक्षोभ शान्त होगा। फलत: प्रमाता मोक्षमार्ग में अग्रसर होगा। विषयों में चित्त लगाया जाय और इन्द्रियों को नियन्त्रण करने का भी प्रयास किया जाय, यह असंभाव्य है। अत एव कहते हैं—**स्वयत्नेनेन्द्रियनियमने प्रवृत्तस्य।** विषयपराङ्मुख होकर मन समाहित न हो तो कितना भी प्रयास किया जाय, वह विविक्त आत्मा की ओर उन्मुख नहीं होगा। फलत: आत्मविषयक निश्चयात्मिका बुद्धि का उदय नहीं होगा। ऐसा होने पर परमात्मोपासनरूप भावना भी नहीं होगी। भावना का अर्थ यहाँ पुन: पुन: अनुसन्धान है। परमात्मा का पुन: पुन: अनुसन्धान नहीं होगा। तत: विषयों के प्रति लालसा शान्त नहीं होगी। विषयविषान्ध मरते वक्त भी विषयचिन्तन करते हुए ही देखे गये हैं। क्या मिला उनको, यह अन्यों को समझना चाहिये। अशान्त होकर कोई जायेगा तो वह अन्यत्र भी अशान्त ही रहेगा। इस अशान्ति को हम अतात्त्विक नहीं कह सकते। अन्यथा सकल शास्त्र भी अतात्त्विक होने लगेंगे। विषयस्पृहा से संपृक्त ही अशान्त होते हैं। ऐसे अशान्त लोगों को नित्य निरतिशय सुख की प्राप्ति नहीं होगी, अर्थात् अपवर्गलक्षण स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी। स्वर्ग को वेद में इस तरह कहा गया है—

यन्न दु:खेन संपृक्तं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्पदं स्व:पदास्पदम्।।

जो सुख दु:ख से संपृक्त न हो और आगे भी दु:ख से ग्रस्त न हो तथा मुमुक्षु की कामना का विषय हो उसे ही स्वर्ग कहते हैं। आचार्यों ने इस श्लोक को वेद माना है। अत: हम भी इसे वेद मानते हैं। हमें शाखाओं को खोजने की आवश्यकता नहीं है। यथाशास्त्र स्वयम् को जो आचारह्रद में आप्लावित कर दिये हैं वे यदि वेद मानते हैं तो हम शाखाओं में आर्यसमाजियों की तरह अन्वेषण करें, यह उचित नहीं है। खण्डदेव ने इसे वेदवाक्य के रूप में प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ है—भाट्टकौस्तुभ। **अशान्तस्य कुत: सुखम्?** शान्तस्वरूप स्वर्ग अशान्त को नहीं प्राप्त होगा, यही औचित्य है। **ऊर्जैवास्मा ऊर्जं पशूनाप्नोति** में जैसे उर्ग्रूप उदुम्बर से उर्ग्रूप पशु की प्राप्ति का औचित्य कहा गया है वैसे ही।

नित्यनिरतिशय सुख ही स्वर्ग है, ऐसा 'प्रीति: स्वर्ग:' कह कर पूर्वमीमांसा के भाष्यकार श्रीशबरस्वामी भी स्वीकार कर रहे हैं। यह सब तभी संभव है जब आहार शुद्ध रहे। आहार भोजन को कहते हैं—आह्रियते शरीरधारणार्थं योऽसावाहार:। शरीरधारण के लिये जिसे ग्रहण किया जाय वही आहार है। उसकी शुद्धि कैसे हो, यही विचार करना है। श्रीभगवान् ने सात्त्विक, राजस और तामस के भेद से आहार को तीन तरह से माना है। सात्त्विक आहार ही श्रेष्ठ है, ऐसा *श्रीगीता* या अन्य शास्त्रीय वचनों से सिद्ध होता है। तथा हि[४]—

४. *श्रीगीता*, 17.8

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।

यहाँ सात्त्विक आहार को कहा गया है। इसकी व्याख्या में ही मैं लेख समाप्त करूँगा। राजस और तामस आहार के विषय में इसलिए नहीं कहूँगा कि वह अर्थात् सिद्ध हो जायेगा। जैसे कोई कहे कि अमुक वैदिक ही वेदों में पर्यावरण खोजते हैं तो अर्थात् सिद्ध होता है कि अन्य वैदिक धर्माधर्म ही खोजते हैं। वेदों में जो हो उसे खोजना ही अच्छा है। पर्यावरण बाहर है तो उसे वेदों में क्यों खोजा जाय? पर्यावरण को बाहर ही खोजना चाहिये। किसी सभा में द्रव्यमात्रदृष्टि आचार्य आहारशुद्धि पर बोल रहे थे। कुछ भितरिया लोग भीतरी आहार को ही शुद्ध मानते हैं। किसी की दृष्टि पड़ गयी है तो वह आहार अशुद्ध हो गया। एक गुरुकुल में पाचक दाल में पिष्टपिण्ड पकाकर छात्रों को खिलाते थे। मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने प्रबन्धक से शिकायत की तो उन्होंने पाचक के ही समर्थन में कहा था कि यह तो बहुत अच्छा आहार है। पशुओं का आहार चारा कहलाता है। पशुओं के लिए वह शुद्ध है। मनुष्यों के लिए नहीं जो चारा चुराकर खाते हैं। लोकतन्त्र में चाराचोर भी सुनने को मिलते हैं। चौर्यप्राप्त आहार शुद्ध नहीं है, इसे आचार्य जी को समझना चाहिये। खाली शुद्धता से पका आहार ही शुद्ध है, ऐसा यदि हम समझते हैं तो धोखे में हैं। हमें धोखे में नहीं रहना चाहिये। बड़े धोखे हैं इस राह में। आहार की राह धोखों से भरी पड़ी है। सात्त्विक लोगों को वे आहार प्रिय हैं जो आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति का विशिष्ट रूप से संवर्धन करते हैं। वे रस के योग्य होने से रस्य हैं। स्निग्ध हैं। स्थिर हैं। हृदय अर्थात् मन के लिए हितकर हैं। स्वान्तं हृन्मानसं मनः। हृदय मन का ही पर्याय है। क्या उत्कोचलब्ध आहर हृद्य हो सकता है या वृथावेतन से प्राप्त? मूलतः आहारशुद्धि नहीं होगी तो क्या विधिवत् पकाने से होगी? कहूँ कि लोकतन्त्र में शुद्ध आहार संभव ही नहीं है तो? मुझे मुख्य धारा से ही विरुद्ध समझा जायेगा। यथार्थ यही है। जो शास्त्र के अतीव सन्निकट होंगे वे मुख्यधारा से विरुद्ध होंगे। शिक्षादलाली का आहार और सूर्योदयादारभ्य सूर्यास्त पर्यन्त परिश्रम से प्राप्त आहार का विश्लेषण किया जाय तो दूसरा आहार ही विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से होगा। महापातकी का आहार और शिलोञ्छजीवी का आहार देखने में एक जैसा ही रहेगा किन्तु फल में महान् अन्तर होगा। फल में विद्यमान इस अन्तर को बतलाने के लिए शास्त्र से अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। चतुर्दश या अष्टादश विद्यास्थानों को ही शास्त्र कहते हैं। कहा भी गया है[५]—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादश स्मृताः।।

---

५. *याज्ञवल्क्यस्मृतौ वीरमित्रोदये श्रीविष्णुपुराणे।*

इनसे अतिरिक्त बौद्ध आर्हतादि ग्रन्थ शास्त्र नहीं है, ऐसा तन्त्रवार्तिक में भट्टपाद ने कहा है। शास्त्र ही धर्म के मूल में स्थित हैं, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा है[६]—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामः धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।

सदाचार के विषय में भी वहीं पर कहा गया है[७]—

साधवः क्षीणदोषाः स्युः सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते।।

जिनमें सभी दोषों की समाप्ति हो गयी हो वे साधु कहे जाते हैं। 'सत्' शब्द साधु का वाचक है। ऐसे साधुओं के आचरण को सदाचार कहा जाता है। श्रुतिस्मृतिप्रोक्त कर्मों में निरत, शास्त्रीय आहार से संवर्धित कलेवर साधुओं का आचार धर्म में प्रमाण माना गया है। वेदमूलक आचार धर्म में प्रमाण है, इससे अर्थात् सिद्ध होता है कि वेद ही मुख्यतया धर्म में प्रमाण हैं। वेदानुकूल मर्यादा से प्राप्त धन से निर्मित आहार ही शुद्ध है, यह अर्थ सुस्पष्ट हुआ।

सात्त्विक पुरुषों के लिए ऐसा आहार ही आयु का संवर्धक है। अन्यायतः अर्जित धन से लब्ध आहार आयु का क्षय करता है। वही सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख-समृद्धि और निरतिशय प्रीति का भी विनाशक है। ऐसे कई लोगों को मैंने देखा है जो वैशाखनन्दनों को महिमामण्डित करके असमय में इस लोक से प्रस्थान किये हैं।

दूध-घी-मलाई-रबड़ी खाने और कुत्तों के साथ टहलने से आरोग्यलाभ नहीं होता। आहार के मूल में अन्यायतः अर्जित सम्पत्ति है तो रोग होंगे ही, चाहे जितनी भी कपालभाती और अनुलोम-विलोम, प्राणायाम किया जाय। मेहनत की कमायी से सूखी रोटी खाकर भी लोग स्वस्थ और प्रसन्नचित्त देखे जाते हैं। महुआ के लट्टों को खाकर श्रम करने वाले जाङ्गल वृद्धों के बाल काले देखे जाते हैं। श्रमार्जित आहार कटु, तिक्त, दुर्गन्धयुक्त और बासी होकर भी बासी नहीं होता। अवैध कमाई से वना आहार ही वैसा होता है। श्रीभगवान् ने राजस और तामस आहारों की जो चर्चा की है वह हराम की कमाई से प्राप्त आहार को लेकर ही की है। तथा हि[८]—

---

६. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 1.7

७. तत्रैव *वीरमित्रोदये श्रीविष्णुपुराणे।*

८. *गीता।*

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।

राजस आहार से दु:ख, शोक और रोगों की प्राप्ति को श्रीभगवान् ने कहा है। चोरों और अधार्मिकों का अन्न उन्हें तत्काल अपनी चपेट में ले लेता है जो यथाशास्त्र अपने शरीर का पोषण करते हैं। दो-तीन जगह भोजन करके शारीरिक और मानसिक उपद्रवों की अनुभूति मैंने भी की है। ब्रह्मचारीजी ने एक के विषय में बताया था कि वह हरिद्वार में मठ की सेवा करते-करते पर्याप्त सोना लेकर भाग आया था और उसी से अपना व्यवसाय सुदृढ़ किया था। दूसरा संन्यासिनी को विभुता से आप्लावित कर दिया था। सत्पात्रों को दान न देना भी आहारको दूषित करता है। तीसरे वे थे जो डाक्टरी से उपलब्ध धन का सहस्रांश भी धर्म मेंनहीं लगाते थे। वैदिक जी के साथ संकोच में आकर एक सेठ के यहाँ पक्का भोजन जो किया उसका फल तो अत्यन्त भीषण था। रात में ही उपद्रव शुरू हो गया। मुझे लगा कि उसकी अवैध कमायी थी। एक उच्च वर्ण की जीविका को अधोवर्ण यदि स्वीकार करता है तो पाप है। आपत्काल में उच्च वर्ण अधोवर्ण की जीविका स्वीकार कर सकते हैं। जैसे ब्राह्मण कलि में वैश्य की जीविका कृषि स्वीकार कर सकता है। आपत्काल हटने के बाद वह अपनी जीविका में आ जाय। अन्यथा शनै: शनै: वह वैश्यब्राह्मण हो जायेगा। ब्राह्मण की जीविका के विषय में मनु ने इस प्रकार कहा है[९]—

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतन्तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्।।
सत्यानृतन्तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात् तां परिवर्जयेत्।।

खेतों में से धान आदि कट कर खलिहान में चला जाय और पशु वहाँ चरने लगे तो एक-एक धान गेहूँ बीन कर अपना धर्म-कर्म और जीवननिर्वाह करना उञ्छवृत्ति है। एक-एक मञ्जरी के सञ्चय से वैसा करना शिलवृत्ति है। ये दोनों जीविकायें ऋत कहलाती हैं। खेतों में बाल बीन कर उससे प्राप्त धन से ग्रामीण बालक पहले मेला आदि करते थे। इससे पता चलता है कि इस वृत्ति से भी ब्राह्मण पहले अपना जीवनयापन करते थे। उन्हें जो अयाचित भिक्षा मिलती थी उसे अमृत कहा गया है। याचित को मृत जीविका कहते हैं। वणिज्या सत्यानृत कही जाती है यदि वह ईमानदारी से हो। सेवा कुत्ते की वृत्ति है, अत: उसका त्याग विहित है। असली जीविका का प्रतिपादन मीमांसा के चतुर्थ अध्याय में है। वहाँ द्रव्यप्राप्ति के नियम का विचार किया गया है। तथा हि[१०]—

---

९. *मनुस्मृति*, 4.5-6

१०. *मीमांसासूत्रम्*, 4.1.1.1

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभतक्त्वात्।

यहाँ पुरुषार्थ का लक्षण कहा गया है। जिस पदार्थ में पुरुष का स्वर्गादिलक्षण प्रेम उत्पन्न हो वह अग्निहोत्र आदि कर्म पुरुषार्थ होता है। क्यों? इसीलिए कि उसका अनुष्ठान (लिप्सा) अर्थलक्षण है—अर्थेन लक्ष्यते यत् तदर्थलक्षणम्। ऐसा पुरुषार्थ को प्रीति से अविभक्त मानकर स्वीकार किया जाता। इस सूत्र में उक्त अर्जननियम का विचार इस प्रकार है—शास्त्रों में द्रव्यार्जन का नियम प्रतिपादित है जिसका भारतीय राष्ट्रवादी तथाकथित कुछ सङ्घटन विरोध करते हैं। जिनमें शास्त्रीय मर्यादाओं का एक अंश भी विद्यमान न हो वे धर्मशास्त्रीय मान्यताओं का विरोध करके राष्ट्र की उन्नति सोचें, यह कहाँ का न्याय है? ऐसे सङ्घटनों की दृष्टि में योग्यता का यही पैमाना है कि कोई सङ्घ में प्रविष्ट रहे। अंगूठा छाप घर-समाज से बहिष्कृत भी सङ्घ में प्रविष्ट जन उसकी दृष्टि में आदर्श के रूप में मर्यादापुरुषोत्तम है और हर तरह से पदप्रतिष्ठा का अधिकारी है। सङ्घ की इसी भोथरी दृष्टि के प्रभाव से कई शिक्षणसंस्थायें चौपट हो चुकी हैं। आप्त पुरुष विद्वत्तल्लज होकर भी यदि संघ में प्रविष्ट नहीं है तो उसकी दृष्टि में लखैरा और पद प्रतिष्ठा के अयोग्य है। सङ्घ में प्रविष्ट बड़े पदाधिकारी निष्काम व आत्माराम है, ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिए। सभी के सभी पद के लोलुप हैं। इसीलिए तो जब भी अवसर प्राप्त होता है तब तक उन्हें उच्च पदों पर समासीन कर दिया जाता है। उनकी यह राष्ट्रभक्ति विलक्षण है। शास्त्रों के विरोध में उतरना उनका संविधान से पूर्णतः विरुद्ध है। संविधान ने सभी को अपने-अपने धर्म के अनुसार चलने का अधिकार प्रदान किया है। धर्म के मूल में शास्त्र ही हैं, यह बात अनादि काल से मीमांसा के न्यायों से सिद्ध है। यदि शास्त्रों का ही विरोध किया जाता है तो प्रकारान्तर से हमें अपने धर्म पर चलने को ही रोका जा रहा है। यह सङ्घ की दादागिरी आखिर क्यों है? मध्य प्रदेश में अस्सी वर्ष के मन्त्री जो बालक के साथ व्यवाय में सुनायी दिये थे वे सङ्घी ही थे। उसका विरोध सङ्घ ने क्यों नहीं किया? उस अवस्था में पहुँचते-पहुँचते इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। वैसी अवस्था में रसायनप्रयोगद्वारा व्यवाय में, वह भी बालाधारित व्यवाय में प्रवृत्ति हो, इसके मूल में शास्त्रों के प्रति अनास्था ही हो सकती है। सुना है कि वे त्यागैकधनी मन्त्री भूतपूर्व प्रधानमन्त्री के लिए अपनी सीट छोड़ दिये थे। इसमें भी उनका स्वार्थ रहा होगा। वृद्धावस्था में भी पुंव्यवायप्रिय त्याग करें, यह बात गले के नीचे नहीं उतरती। इतना अवश्य समझना चाहिये कि जो शास्त्रों के विरोध में उतरते हैं वे अनादितः भारत में चले आ रहे हिन्दुओं के निःश्रेयसपथ को ही अवरुद्ध करने का प्रयास करते हैं। शास्त्रों में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो आज किसी के लिए अप्रासङ्गिक हो। उलटा समझने पर अप्रासङ्गिकता दिखायी दे तो हम क्या कर सकते हैं। ऐसे में शास्त्रों के अभिप्राय को समझने की आवश्यकता है, न कि उसका विरोध करने की।

ब्राह्मण, याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह से ही द्रव्यार्जन करें। क्षत्रिय प्रजापालन आदि के द्वारा ही द्रव्यार्जन करें। वैश्य वाणिज्य, कृषि, पशु-पालन आदि से ही और शूद्र सेवा एवम् शिल्पादि कर्मों से ही द्रव्यार्जन करें। यह धर्मार्थ है कि पुरुषार्थ, ऐसा सन्देह होता है। धर्मार्थ को ही क्रत्वर्थ कहा जाता है। इष्टफल

के लिए जो होता है वह पुरुषार्थ कहा जाता है। द्रव्यार्जन पुरुषार्थ ही है, इस बात को श्रीपार्थसारथिमिश्र इस तरह कहते हैं[११]—

पुरुषार्थत्वमेतस्य प्रत्यक्षेणावगम्यते।
क्रत्वर्थताऽनुमानेन प्रत्यक्षात्तच्च दुर्बलम्।।

अर्जन रागत: प्राप्त है। रागत: प्राप्ति पुरुषार्थतया होती है। अर्जित द्रव्य पुरुष की प्रीति का कारण होता है, अत: पुरुषार्थ है, ऐसा प्रत्यक्षत: सिद्ध है। धर्म भी पुरुषार्थों में से कोई एक कार्य होता है अत: नियमत: अर्जित धन से धर्म होना चाहिये। जो यथावत् धर्म का अनुष्ठान करके नित्य और निरतिशय सुख प्राप्त करना चाहते हैं वे इस अर्जननियम के अनुसार ही कार्य करें। उनकी आहारशुद्धि तभी होगी। आज की परिस्थिति के अनुसार यदि वैसा संभव न हो तो भी कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है। जैसे कोई अल्पज्ञ होकर भी तिकड़म करके सरकारी प्राध्यापक पद प्राप्त कर ले तो जीवन में अपनी योग्यता बढ़ा ही सकता है। परिश्रम करके यथावत् ज्ञान प्राप्त कर अपने विषय का छात्रों में वितरण कर ही सकता है। यदि ऐसा न करके दलाली और नेतागिरी में लगता है तो सर्वथा वह निन्दनीय है। उसका आहार ही कटु, विदाही, पूति और पर्युषित है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

इस वैदिक उद्घोष का भी इसी अर्थ में तात्पर्य है।

वरिष्ठाध्यापक,
मीमांसाविभाग,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय,
वाराणसी।

११. *शास्त्रदीपिका*, 4.1.2

महाभारतीय गीता साहित्य के स्वरूप का अनुसन्धान

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

दर्शन परम्परा में गीता : शब्द प्रयोग, तात्पर्य एवं विधा परीक्षण

इतिहास एवं पुराण ग्रन्थों के महासागरों में निमज्जित अप्रसिद्ध उपनिषदों की सारभूता अनेक गीता रूपी यह रत्न राशि निश्चय ही अद्भुत, अनुपम एवं अमूल्य दार्शनिक निधि है। गीतोद्धाररूपी महनीय एवं गौरवमय कार्य करते हुए हमें अपार हर्ष एवं संतोष का अनुभव हो रहा है। इस शोध परियोजना में संगृहीत दिव्यज्ञान की प्रसारिका गीतायें अनेक दार्शनिक जिज्ञासाओं, नैतिक समस्याओं एवं आध्यात्मिक प्रश्नों का भलीभाँति समाधान प्रस्तुत करती हैं। जब एक गीता ने ही विश्व के ज्ञानी मनीषीगण को अति प्रभावित किया है तो निस्सन्देह इन अनेक गीताओं का स्वतन्त्र रूप में प्रकाशन विश्व को चमत्कृत कर नवचिन्तन का आधारभूत मार्ग प्रशस्त करेगा। इन विविध गीताओं के संवाद विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा तत्कालीन विशिष्ट विज्ञानियों के साथ किये गये हैं। गीताओं के उपदेष्टा परापरज्ञ देवता या त्रिकालदर्शी महर्षिगण हैं जिन्होंने गुरुभाव में दुविधाग्रस्त शिष्य को अपूर्व अमृत के उपदेश से आप्लावित एवं सिञ्चित किया है। इन दुर्लभ अमृत कणों को हम श्रद्धापूर्वक सञ्चित कर लोककल्याणार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

गीता का शाब्दिक अर्थ

गाया हुआ अथवा कथन किया गया। हमारी चिन्तन परम्परा में अध्यात्म और ज्ञान-सम्बन्धी छोटी रचनाओं का नाम प्राय: गीता हो गया है। इनमें से कुछ में आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है, किसी में वेदान्त और ब्रह्मज्ञान की चर्चा की गई है, किसी में हठयोग आदि किसी योग विधि का विवेचन किया गया है, किसी में सम्प्रदाय विशेष के विधिविधानों का प्रतिपादन किया गया है, किसी में नैतिक प्रश्नों का शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत हुआ है, किसी में दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है, किसी में पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ पूर्वघटित आख्यानों के माध्यम से विवेचित की गई है, किसी में कर्मकाण्ड तथा वर्णाश्रम धर्म का विवरण ही पाया जाता है। पर एक बात अवश्य है कि प्रत्येक गीताकार ने अपना उद्देश्य अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होकर मोक्ष प्राप्त करना ही माना है। उनका कथन है कि यदि कोई मनुष्य हमारे उपदेशानुसार आचरण करता है, भजन, चिन्तन, साधन, उपासना अथवा कर्मकाण्ड द्वारा आत्मोन्नति करता है तो वह निश्चय ही भव-बन्धनों से छुटकारा पाकर परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर

सकेगा। अत: इन सभी अध्यात्म प्रधान गीताओं का दर्शनशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। वस्तुत: गीता दिव्य ज्ञान का अमृतमय उपदेश है जिसमें बहुधा गुरुशिष्य के संवाद रूप में संस्कृत पद्यों द्वारा धार्मिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है तथा गुरु कई बार ईश्वर भाव का प्रदर्शन भी करते हैं। अत: धार्मिक एवं श्रद्धालु जन इसे दिव्यज्ञान और आध्यात्मिक उपदेश मानते हैं।

संस्कृत के पुरातन वाङ्मय के अन्तर्गत अध्यात्म प्रधान दार्शनिक भावों पर आधारित जो श्लोकबद्ध रचनायें की जाती थीं उन्हें प्राय: 'गीत' नाम से कहा जाता था। इन गीतों का उद्देश्य ईश्वर की ओर मानव को उन्मुख करना था। पुराणों के रचयिता महर्षि वेदव्यास ने ऐसे गीतों को भगवान् विष्णु का अंश रूप बतलाया था। उन्होंने *विष्णुपुराण* में लिखा है—

काव्यालापाश्च ये केचित् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मन:।।

सम्भवत: ये गीत ही गीताशास्त्र की नींव है, जिसके कारण इन गीतों को पद्यकाव्यविधा के अन्तर्गत ही 'गीता' नाम से स्थान मिल पाया। गीता के रूप में ये अध्यात्मप्रधान रचनायें शास्त्र मानी जाने लगी क्योंकि दर्शन ही शास्त्र के रूप में मान्य था। षड्दर्शन को षट्शास्त्र कहने की परम्परा आज भी विद्वानों में देखी जाती है। वस्तुत: शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में लिखा है—

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभि:।।

तात्पर्य यह है कि 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति शास् एवं शंस् दो धातुओं से मानी जाती है। शास् का अर्थ है—आज्ञा करना तथा शंस् का अर्थ है—प्रकट करना या वर्णन करना। शासन करने वाले शास्त्र प्राय: विधि-निषेध रूप में उपदेशात्मक तथा निर्देशात्मक होते हैं। इनमें प्राय: श्रुति एवं स्मृति का ग्रहण किया जाता है।

श्रुति एवं स्मृति द्वारा प्रतिपादित कर्म अनुष्ठेय माने गये हैं। अत: वे सबके सब विधि रूप में ग्राह्य है जबकि श्रुति तथा स्मृति द्वारा निन्दित कर्म हेय माने गये हैं। अत: उनका प्रतिषेध किया गया है, क्योंकि वे त्याज्य है। अत: शास्त्र विधि निषेधात्मक होते हैं।

शंसन करने वाले शास्त्र वे शास्त्र हैं जो ज्ञानपरक होते हैं तथा आत्मालोचन कर सत्य की ओर प्रेरित करने वाले होते हैं। ऐसे शास्त्रों में 'उपनिषद्' का नाम सर्वप्रथम लिया जाना उचित है, क्योंकि वेदों के ज्ञानकाण्ड नाम से जाने जाने वाले उपनिषत् साहित्य में सर्वत्र आत्मजिज्ञासा का उपदेश है। प्राणि का पारलौकिक अभ्युदय इनका लक्ष्यभूत है।

पूर्वोक्त वाङ्मय भेदों के रूप में चर्चित 'गीत' जो 'गीता' के मूल आधार हैं इन्हीं उपनिषदों के ज्ञान को अपने आप में समेटे हुए है, जिसका प्रमाण हमें भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गयी पुष्पिका में उपलब्ध होता है—

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।

उपर्युक्त उल्लेख में 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि श्रीकृष्णार्जुन संवाद के रूप में सृजित भगवद्गीता से पूर्व अनेक गीतायें विद्यमान थी, अतः ग्रन्थकर्ता महर्षि वेदव्यास ने बहुवचनान्त सप्तम्यन्त पद का प्रयोग किया है। दूसरा तथ्य यह भी स्पष्ट होता है कि गीताग्रन्थ उपनिषत्तुल्य थे। वेदव्यास ने उनको उपनिषद् ही माना है। अतः अभेदान्वय सम्बन्ध से 'श्रीमद्भगवद्गीता' के सन्दर्भ में वेदव्यास लिखते हैं कि उन उपनिषत्मूलक गीताग्रन्थों में यह ग्रन्थ ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हेतु विविध योगों का शंसन करने वाला शास्त्र है, जो संवादशैली में लिखा गया है।

गीताशास्त्र के ऐतिहासिक संदर्भ में उपर्युक्त उल्लेख पर्याप्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु गीता-परम्परा के उद्भव के मूलान्वेषण हेतु हमें इस आधार पर उपनिषदों की गहराई तक जाना पड़ेगा।

उपनिषद् एवं गीताओं के प्रस्तुतिकरण की दिव्य शैली

उपनिषदों का कवित्व भले ही सरलतम प्रतीत होता हो, किन्तु शाब्दिक अभिव्यक्ति ही सब कुछ नहीं होती, उपनिषदों में अर्थ की गम्भीरता विद्यमान रही है तथा इसी कारण न केवल उपनिषदों के चिन्तन को ही गम्भीर माना जाता है, अपितु उपनिषदों के कवित्व को भी गम्भीर समझा जाता रहा है। इसका मूल कारण यह है कि इस उपनिषत् साहित्य में आध्यात्म जैसे गम्भीर विषय की प्रस्तुति हुई है। उपनिषदों के इस कवित्व के संदर्भ में प्रो. दत्तात्रेय रामचन्द्र रानाडे ने लिखा है—"तीव्रतम भावोद्रेक में रचना करने वाला कवि दिव्य प्रेरणा में आत्मानुभूति की सीमा और अन्तस् में सरस्वती की अवतारण कोटि के अनुरूप अनुपात में ही सौन्दर्य साधना कर पाता है। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये अतीन्द्रिय काव्य मनुष्यरचित होने के नाते ही पौरुषेय नहीं कहला सकते वरन् दिव्य तथा ईश्वर प्रदत्त है।" (— *उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण)*

उक्त कथन से यह तो स्पष्ट है कि समालोचक उपनिषदीय कवित्व के संदर्भ में जिस तीव्रतम भावोद्रेक की बात कर रहा है, वही गीत अथवा गीता शास्त्र का मूल आधार रहा है। गीत एवं गीता का कवित्व भी प्रायः इसी तीव्रतम भावोद्रेक से अनुप्राणित है। उपनिषद् ग्रन्थों में इस तीव्रतम भावोद्रेक को प्रकट करने की अनेक पद्धतियाँ अपनायी गयी हैं जैसा कि प्रो. रानाडे एवं डॉ. काले ने एकादश विधियों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार है—

1. रहस्यान्वेषणमूलक जिज्ञासात्मक प्रश्न शैली
2. सूत्र शैली
3. व्युत्पत्ति शैली
4. कथा शैली
5. दृष्टान्त शैली
6. संवाद शैली
7. रूपक शैली
8. समन्वय पद्धति
9. आत्मोक्ति पद्धति
10. प्रयोजन पद्धति
11. प्रतिगमन पद्धति

उपनिषदों की ये विविध शैली पद्धतियाँ उस तीव्रतम भावोद्रेक को व्यक्त करने में समर्थ हुई है, जो पुरातन ऋषि-परम्परा एवं गुरु-शिष्य परम्परा में जिज्ञासोपशम या शङ्का-समाधान के रूप में विद्यमान था। अध्यात्म इस प्रक्रिया का मूल बिन्दु या मूल आधार था। उस समय सम्भवत: आत्मजिज्ञासा या ईश्वरजिज्ञासा ही मानवीय चिन्तन का एकमात्र विषय था, फिर भी अनेक रूपों में उपनिषदों का यह आध्यात्म चिन्तन अभिव्यक्त हुआ।

उपनिषद् ग्रन्थों में अपनायी गयी उपर्युक्त पद्धतियाँ ही हमें परम्परागत गीता ग्रन्थों में यत्र-तत्र उसी प्रकार प्राप्त हो जाती है। अत: गीता ग्रन्थों को उपनिषदों का ऋणी मानना अधिक उचित होगा। वस्तुत: उपनिषदों के दर्शन का विकसित रूप गीता साहित्य है जो महाभारत एवं पुराण साहित्य में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ है।

गीता एवं तत्पर्याय शब्दों की प्रयुक्ति

गीता शब्द मूलत: गीत शब्द का ही रूपान्तर है, क्योंकि गीता एवं गीत दोनों शब्द संस्कृत व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'गै' धातु से निष्पन्न हैं। पाणिनीय नियमानुसार 'गै' धातु से 'क्त' प्रत्यय जोड़ने एवं स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने पर 'गीता' शब्द सिद्ध होता है।

गीता का तात्पर्य है, जिसे गाया गया हो। 'गै' धातु से भूत अर्थ में 'क्त' प्रत्यय के संयोग से गीता शब्द निष्पन्न हुआ है। यह स्त्रीलिङ्ग 'टाबन्त' पद है। महाभारत एवं भागवत में 'गीत' शब्द का प्रयोग हुआ है जो नपुंसकलिङ्ग में प्राप्त है। तात्पर्य की दृष्टि से दोनों को निम्नानुसार स्पष्ट किया जा सकता है—

गीयते स्म या सा गीता। — भाव व्युत्पत्ति
गीयते इति गीतम्। — करण व्युत्पत्ति

दोनों का तात्पर्य लगभग एक जैसा नहीं है। गीता जहाँ किसी एक विशिष्ट प्रसङ्ग में किसी विशिष्ट व्यक्ति का एक विषय पर दिये गये उपदेश को सूचित करती है वहाँ गीत प्रसङ्ग विशेष को लेकर किसी विषय का अतिरेक पूर्ण कथन होता है जो गा–गाकर सुनाया जाता है। महाभारत में प्राप्त गीताओं में वस्तुत: किसी ऋषि या महापुरुष का किसी विशिष्ट विषय पर उपदेश प्राप्त होता है। अत: इस सन्दर्भ में गीता को स्वरूप की दृष्टि से उपदेशात्मक शास्त्र मानना ही सर्वाधिक उचित है। कतिपय विद्वानों की यह भी मान्यता रही है कि वैदिक काल में गेय आख्यानों को गाथा शब्द से कहा जाता था। यह शब्द लौकिक संस्कृत में लिखे जाने वाले गेय आख्यानों के लिए 'गीता' नाम से रूपान्तरित हो गया। इन विद्वानों ने अपने कथन की पुष्टि में महाभारत के उन पद्यों को प्रमाण बताया है जिनमें गाथा एवं गीता का एकार्थ में अथवा समानाधिकरण में प्रयोग हुआ है।

महाभारत में प्राप्त इन गीताओं का स्वरूप गीतिकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। ये सब भिन्न–भिन्न समय की रचनायें हैं। इनमें इतना साङ्कर्य है कि इनके पौर्वापर्य का निर्धारण करना पर्याप्त कठिन है, किन्तु यह कहना उचित है कि महाभारत के अन्तिम संस्करण के समय तक संभवत: ये सभी गीतायें महाभारत की अङ्ग बन चुकी थी।

यद्यपि इन सभी गीताओं के लिए 'गीता' शब्द का स्पष्टत: प्रयोग नहीं हुआ है तथा कुछ के प्रारम्भ में तथा कुछ के मध्य या अन्तिम पुष्पिका में 'गीता' या 'गीत' शब्द का उल्लेख उपलब्ध होता है। कुछ गीताओं में 'इतिहास', कुछ में 'गीत', कुछ में 'उपनिषद्', कुछ में 'रहस्य' तथा कुछ में 'गाथा' संवाद आदि शब्दों के प्रयोग प्रतिपाद्य के द्योतक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

भागवत के रुद्रगीत, वेणुगीत, युग्मगीत, भिक्षुगीत, भूमिगीत, गोपीगीत, भ्रमरगीत स्वरूप की दृष्टि से उपदेशात्मक नहीं है। यद्यपि इनमें साहित्यिक वैशिष्ट्य भावाभिव्यञ्जना के कारण रुचिकर हैं तथापि महाभारत में प्रयुक्त 'गीत' शब्द इनके समतुल्य अर्थ में न होकर 'गीता' के अर्थ में है। अत: वहाँ गीत को गीता के पर्याय अर्थ में ग्रहण किया गया है।

महाभारत की अश्मगीता, वामदेवगीता, बोध्यगीता, मङ्किगीता, विचख्नुगीता, वृत्रगीता, शम्पाकगीता, माण्डव्यगीता, सेनजिद्गीता, कैकयगीता, भार्गवगीता, नारायणगीता तथा बलिगीता इत्यादि में 'गीता' तथा 'गीत' शब्द पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं–कहीं गीता अर्थ में प्रयुक्त 'गीत' शब्द के साथ 'इतिहास' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। तात्पर्य यह है कि इन गीताओं में इतिहास प्रसिद्ध धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सम्बन्धी प्राचीन कथानक भी उपनिबद्ध हुए हैं। चारों पुरुषार्थों से सम्बन्धित कथायें इतिहास का विषय मानी जाती रही है।

कुछ गीताओं में केवल 'इतिहास' शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग भी किया गया है। उदाहरण के लिए अनुगीता, भृगुगीता तथा ऋषभगीता में इतिहास शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग उपलब्ध होता है। इनमें कुछ गीतायें छोटे–छोटे संवादों से युक्त हैं, जैसे—हंसगीता, ब्राह्मणगीता, आजगरगीता, कपिलगीता, शृगालगीता,

याज्ञवल्क्यगीता, गुरु-शिष्यसंवादगीता इत्यादि। भगवद्गीता भी श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवाद के रूप में उपलब्ध होती है। अत: स्वरूप की दृष्टि से उसे संवादात्मक मानना अधिक उचित होगा। भगवद्गीता के स्वरूप के आधार पर कई विद्वानों ने तो संवाद और गीता में विशिष्ट साम्य भी स्वीकार किया है।

'गीता' एवं 'गाथा' शब्दों में भी पर्याप्त साम्य है। महाभारत में उपलब्ध कतिपय गीतायें गाथा रूप में कही गयी हैं, जैसे—पिङ्गलागीता, कामगीता, यज्ञगीता, ब्रह्मगीता, जनकगीता, ब्राह्मणगीता, ययातिगीता इत्यादि। गाथा का तात्पर्य है—प्रशस्त व्यक्तियों अथवा वीर पुरुषों की प्रशंसा में कहे गये गीत। ऐसे गीत सम्भवत: लोकभाषा में आज भी प्रचलित देखे जाते हैं।

महाभारत एवं पुराणों में अनेक प्रसङ्गों को लेकर ऐतिहासिक कथानकों की उपलब्धि होती है। प्रसिद्ध गाथायें ही लोकगीतों के रूप में गायी जाती रही हैं। अत: उन्होंने भी 'गीता' का रूप ले लिया है जिसके कारण 'गाथा' और 'गीत' पर्याय जैसे प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राचीनकाल के प्रसिद्ध पुरुषों के आप्तोपदेश कण्ठोपकण्ठ परम्परा से श्रुत परम्परा से प्रचलित रहे हैं। महाभारत में इनका संकलन या समावेश अन्तिम संस्करण के समय तक हुआ। मूल महाभारत में ये गाथा अथवा गीत समाविष्ट नहीं थे। इनका संकलन इसलिये किया गया, क्योंकि महाभारत एक इतिहास ग्रन्थ है तथा गाथा एवं गीतों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इतिहास से रहा है। आख्यानों एवं उपाख्यानों का सम्बन्ध भी इतिहास से है। अत: कतिपय आख्यानों-उपाख्यानों का संकलन भी इनमें करना अनिवार्य है।

महाभारत में विविध गीताओं का मानने का तार्किक आधार

महाभारत में जिन युक्तियों के आधार पर गीता मानना सुनिश्चित किया गया है उनके प्रमाणों का हम उल्लेख कर रहे हैं जिससे इनकी गीता नाम से स्वीकृत होने की पुष्टि हो सके। ये आठ तरह के प्रमाण इस प्रकार प्राप्त हैं—

1. महाभारतकार ने स्पष्ट शब्दों में गीता नाम से कहा है।
2. महाभारत में प्रत्येक अध्याय के अन्त की पुष्पिका में गीता शब्द का प्रयोग किया है।
3. वेदव्यास ने गीत शब्द से गीता को संकेतित किया है।
4. महाभारत में गीत और इतिहास शब्द से गीता मानी गई है।
5. महाभारतकार ने इतिहास शब्द से गीताओं को सूचित किया है।
6. लेखक ने इतिहास एवं संवाद शब्द से गीताओं को बताया है।
7. ग्रन्थकार ने उपनिषद् या रहस्य शब्द से गीताओं को संकेतित किया है।
8. उत्तरवर्ती परम्परा के ग्रन्थों में इन्हें गीता के नाम से सम्बोधित किया गया है।

महाभारत के निम्न उद्धरणों में रचनाकार ने स्पष्ट गीता एवं गाथा शब्द का प्रयोग किया है—

1. अपि गाथामिमां गीता जनकेन वदन्त्युत। —जनकगीता, 17

2. अत्र गाथा यज्ञगीता: कीर्तयन्ति पुराविद:। — यज्ञगीता, 1.47

3. अत्र पिङ्गलया गीता गाथा: श्रूयन्ति पार्थिव। — पिङ्गलागीता, 56

4. अत्र गाथा ब्रह्मगीता: कीर्तयन्ति पुराविद:। — ब्रह्मगीता-I , 1

5. अत्र गाथा ब्रह्मगीता: कीर्तयन्ति पुराविद:। — ब्रह्मगीता-I I , 7

6. अत्र गाथा: पुरा गीता: शृणु राजा ययातिना। — ययातिगीता, 31

7. अत्र गाथा: कामगीता: कीर्तयन्ति पुराविद:। — कामगीता, 11

8. अत्र गाथा: कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जना:।
अम्बरीषेण या गीता राज्ञा राज्यं प्रशासता। — अम्बरीषगीता, 4

9. जगाम महतीं सिद्धिं गाथां चेमा जगाद ह। — अम्बरीषगीता, 6

10. इति राज्ञाम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना। — अम्बरीषगीता, 13

महाभारत के निम्न श्लोकों में गीत शब्द के द्वारा गीताओं को सङ्केतित किया गया है—

1. अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरञ्जय। — सरस्वतीगीता, 1.1

2. गाङ्गेयेन पुरा गीतो महापातकनाशन:। — भीष्मस्त्वराजगीता 1.111

3. मनुना चापि राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना। — मनुगीता, 23

4. श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा। — उशनोगीता, 1.28

5. मरुत्तेन हि राज्ञा वै गीत: श्लोक: पुरातन:। — भार्गवगीता, 1.6

6. श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना। — भार्गवगीता, 1.40

7. अथात्रनारायणगीतमाहुर्महर्षयस्तात महानुभावा:। — नारायणगीता, 1.13

8. अस्मिन्नर्थे च यौ श्लोकौ गीतावङ्गिरसा स्वयम्। — आङ्गिरसगीता, 69

9. इत्येतद् बलिना गीतमहंकारसंज्ञितम्। — बलिवासवगीता, 1.38

10. नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुन:।। — नारायणीयगीता, 1.112

महाभारतकार ने इतिहास एवं गीत शब्द से गीताओं को इस प्रकार सूचित किया है—

1. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं राज्ञा सेनजिता दु:खार्तेन युधिष्ठिरा। —सेनजिद्गीता-। , 1.13

2. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर। — अश्मगीता, 1.2

3. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं केकयराजेन ह्रियमाणेन रक्षसा। — कैकेयगीता, 1.6

4. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं दृष्टार्थतत्त्वेन वामदेवेन धीमता।। —वामदेवगीता, 1.2

5. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शम्पाकेन विमुक्तेन गीतं शान्तिगतेन च। — शम्पाकगीता, 1.2

6. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर। — मङ्किगीता, 1.4

7. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता।। — बोध्यगीता, 1.1

8. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतं राज्ञा विचख्नुना। — विचख्नुगीता, 1.1

9. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीत विदेहराजेन माण्डव्यायानुपृच्छते। — माण्डव्यजनकगीता, 1.3

10. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
हारीतेन पुरागीतं तं निबोध युधिष्ठिर। — हारीतगीता, 1.2

11. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अस्मिन्नर्थे पुरा गीतं शान्तिगतेन ह। —वृत्रगीता, 1.13

निम्नगीताओं में इतिहास शब्द से गीताओं को सङ्केतित किया गया है—

1. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतिं वसुमना यथा प्रपच्छ भारत। —आङ्गिरस(बृहस्पति)गीता,1.2

2. इतिहासं सुमित्रस्य निवृतमृषभस्य च। — ऋषभगीता, 1.8

3. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत् सुहृत्।—सेनजिद्गीता-। । , 1.8

4. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। — भृगुगीता, 1.5

5. इक्ष्वाकोः सूर्यपुत्रस्य यद्वृत्तं ब्राह्मणस्य च। — जापकगीता, 1.2

6. मनोः प्रजापतेर्वादं महर्षेश्च बृहस्पतेः। — मनुगीता-। । , 1.2

7. येन वृत्तेन धर्मज्ञः स जगाम महत् सुखम्।। — पञ्चशिखगीता, 1.2

8. चिरकारेस्तु यत्पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले। — गौतमचिरकारिगीता, 1.2

9. अत्र ते वर्तिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
अरिष्टनेमिना प्रोक्तं सागरायानुपृच्छते। — अरिष्टनेमिगीता, 1.2

10. इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्। — अनुगीता, 1.3

अग्रलिखित गीताओं में संवाद शब्द से गीता को अभिहित किया गया है—

1. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह। — गुरुशिष्यगीता-। । , 1.2

2. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च। — आजगरगीता, 1.2

3. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर। — शृगालगीता, 1.4

4. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं वासुदेवस्य सुरर्षेर्नारदस्य।। — कर्मफलगीता 1.2

5. प्रह्लादस्य च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर। — प्रह्लादगीता, 1.3

6. वासवस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च। —बालिवासवगीता, 1.2

7. शतक्रतोश्च संवादं नमुचेश्च युधिष्ठिर। — नमुचिवासवगीता, 4.1

8. जगौ भगवान् व्यासः पुत्राय परिपृच्छते। — व्यासगीता-। , 1.6

9. तुलाधारस्य वाक्यानि धर्मे जाजलिना सह। — जाजलिगीता, 2.1

10. कपिलस्य गोश्च संवादं तन्निबोध युधिष्ठिरा। — कपिलगीता, 1.5

11. नारदस्य संवादं देवलस्यासितस्य च। — असितदेवलगीता,

12. पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर। — पितापुत्रगीता, 1.1

13. नारदस्य संवादं समङ्गस्य च भारत। — समङ्गगीता, 1.2

14. गालवस्य संवादं देवर्षेर्नारदस्य च। — श्रेयोवाचिकागालवगीता, 1.2

15. अत्र ते वर्तियिष्येहमितिहासं पुरातनम्।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर। — हंसगीता, 1.2

16. अत्र ते वर्तियिष्येहमितिहासं पुरातनम्।
याज्ञवल्क्य संवादं जनकस्य च भारत।। — याज्ञवल्क्यगीता, 1.3

17. जनकस्य च संवादं सुलभायाश्च भारत।। — सुलभागीता, 1.3

18. अत्र ते वर्तियिष्येहमितिहासं पुरातनम्।
दम्पत्योः पार्थ संवादो योऽभवद् भरतर्षभ।। — अनुगीता, 6.1

19. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। — अनुगीता, 6.1

20. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।। — अनुगीता, 7.1

21. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।। — अनुगीता, 8.1

22. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च।। — अनुगीता, 9.1

23. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।। — अनुगीता, 10.1

24. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अध्वर्युयतिसंवादं तं निबोध यशस्विनि।। — अनुगीता, 13.6

25. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
कार्तवीर्यस्य संवादं समुद्रस्य च भाविनि। — अनुगीता,

26. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।। — अनुगीता, 15.1

27. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भाविनि।। — अनुगीता,17.1

निम्नलिखित गीताओं में इन्हें उपनिषद् शब्द से प्रतिबोधित किया गया है—

1. एतां राजोपनिषदं ययाति स्माह नहुषः।
मनुष्यविजये युक्तो हन्ति शत्रूननुत्तमान्।। — वामदेवगीता, 1.38

2. असेरष्टौ च नामानि रहस्यानि निबोध मे।। — खड्गगीता, 1.81

3. इमां रहस्यां परमामनुस्मृतिमधीत्य बुद्धिं च लभते च नैष्ठिकीम्।
विहाय दुःखान्यवमुच्य सङ्कटात् स वीतरागो विचरेन् महीमिमाम्।।
— विष्णुवराह (अनुस्मृति) गीता 3.86

4. तेषामपेततृणानां निर्णिक्तानां शुभात्मनाम्।
चतुर्थ औपनिषदो धर्मः साधारणः स्मृतः।। — कपिलगीता, 1.27

5. उपनिषदमुपाकरोत्तदा वै जनकनृपस्य पुरा हि याज्ञवल्क्यः।।
— याज्ञवल्क्यगीता, 1.108

6. इदं द्वैपायनवचो हितमुक्तं निशम्य तु।
शुको गतः परित्यज्य पितरं मोक्षदेशिकम्।। — व्यासगीता-। । , 9.4

7. इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।
सांख्ययोग कृतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम्।। —नारायणीयगीता, 1.112

8. सुरहस्यमिदं प्रोक्तं देवानां भरतर्षभ।
कश्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मनुष्येणेह कर्हिचित्।।— अनुगीता, 4.57

यह सत्य है कि महाभारत में प्राप्त *भगवद्गीता* की वैचारिक जगत् में पूर्णतः प्रसिद्धि है जबकि अनुगीता की ख्याति अंशतः हुई है। महाभारत में उपलब्ध अन्य गीताओं की स्वतन्त्र रूप में चर्चा भारतीय दार्शनिक परम्परा में नगण्य रूप में हुई है। इस शोधकार्य में महाभारत में उपलब्ध समग्र 93 गीताओं का अनुसंधान करते हुए उनका स्वरूप निर्धारण करने का प्रयास किया गया है। महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने पुष्पिकाओं में 14 गीताओं का नामोल्लेख किया है। लोकमान्य तिलक ने *गीतारहस्य* में 12 गीताओं को मुख्य रूप से उल्लिखित किया है। पं. जानकीनाथ शर्मा 16 गीताओं का निर्देश अपनी पुस्तक *महाभारत परिचय* की भूमिका में किया है। डॉ. सुखमय भट्टाचार्य ने अपनी कृति *महाभारतकालीन समाज* में 16 गीताओं का उल्लेख किया है। प्रो. संगमलाल पाण्डेय ने 7 गीताओं का विवेचन अपने ग्रन्थ *भारतीय दर्शन*

का सर्वेक्षण, पृ. 45–47 में किया है। डॉ. आर. नीलकण्ठ ने अपनी शोध कृति (अंग्रेजी) *महाभारत और पुराण की गीताओं के अध्ययन* में 16 गीताओं का वर्णन किया है। पं. श्रीराम शर्मा ने *चौबीस गीता* ग्रन्थ में 28 गीताओं की स्वीकृति दी है। वीरेन्द्र शर्मा ने *गीता संचयन* में 18 तथा शोधविदुषी डॉ. प्रज्ञा (हरिकृष्ण ठाकर) जोशी ने अपने गुजराती शोध ग्रन्थ *महाभारत की गौण गीता : एक विवेचनात्मक अध्ययन* में 44 गीताओं का विवेचन किया है। इस विषय में पर्याप्त अनुसंधान करते हुए महाभारत में उपलब्ध 93 गीताओं का स्वरूप निर्धारण किया गया है।[१] महाभारत की 93 गीताओं को निम्न विषय क्रमानुसार 7 भागों में वर्गीकृत किया गया है, जिससे दार्शनिक जगत् के जिज्ञासुओं को लाभ हो सके।

1. देवविशेष द्वारा प्रोक्त गीताएँ
2. ऋषिवर के द्वारा उपदिष्ट गीताएँ
3. दिव्य मनुष्यों के द्वारा कथित गीताएँ
4. राजन्यवर के द्वारा प्रोक्त गीताएँ
5. मनुष्यविशेष के द्वारा कथित गीताएँ
6. पशु–पक्षी द्वारा प्रस्तुत गीताएँ
7. असुर के द्वारा विवेचित गीताएँ।

विभागाध्यक्ष,
दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

१. द्रष्टव्य है— *विविध महाभारतीय गीताओं का अनुसन्धान* (भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् की परियोजना की अप्रकाशित रिपोर्ट) दर्शनशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

Kashmir (Trika) Shaivism in Prospect and Retrospect

Dr. Chaman Lal Raina

Abstract

The Shaiva faith is an ancient faith of the world as is evident from the ancient scriptures and even referred in review of literature that Shaivism has a history going back to the excavations at Mahenjodaro and Harappa Civilization reflecting ancient living faith in the world and appears in three modules, in many parts of India.*Vira- Shaiva* form is in South ; The *Shaiva Siddhanta* in Tamil Nandu and *Advaita Shaiva* forms the TRIKA FAITH and philosophy of Kashmir. This main focus of this paper is on Kashmir Shaivism in prospect and retrospect highlighting the Trika Philosophy –the journey of objective consciousness through cognitive consciousness and how can a Nara/human being reach and maintain Shivistic State, known as the Samvit Shakti within the physical and mental state, for realizing the Ultimate Shiva—both immanent and trranscendent.

Key Words *: Trika Philosophy,Abhinavagupta, Chaitanyam* , Samvit, Shakti, Anugraha,36 Tattvas

Introduction

The circuitous upper valley of Vitasta, is the famous Kashmir in the Himalayan region. There are Haramukha and Amarnath mounts, branches off from the great Himalayas a little further east, proceeds towards south and encircling the sources of Vitasta, turns north west, where it is called Pir Pantsal or Panchaldhara now Banihal range . These lesser mountains of the Himalayas surround the valley of Kashmir on all sides; leaving only a

narrow outlet for the Vitasta at Baramulla. Kashmir valley is thus surrounded by the Himalayas and Vitasta has been the life line and a prominent source for the socio-economic welfare of Kashmir. Vitasta being the incarnation of the Divine Mother, as said in the Vitasta Mahatamyam. The climate of Kashmir is fine to suit the spring, summer and autumn season while the winter season makes the inhabitants of Kashmir, mostly to be in their homes. At the fag end of winter Kashmiri Hindus observe the Maha Shivaratri with great pomp and show associated with the belief and tradition of celebrating the union of Siva and Shakti. Many Puranic stories are connected with the celebration of the Maha Shivaratri popularly known in Kashmir as 'Herat'. Should we believe that Harmukta, Amarnath cave or Maha Shivaratri are the impact of Shaivism for which Kashmir enjoys a special position in the globe for giving a dynamic philosophy of day to day living ? Is it closely related to Vedanta System or the Sankhya System or its obligation is due to Shakti worship that we see in every corner of Kashmir or because of the impact of Tantra fold, popularly known as the Agamas prevalent in Kashmir.

"Kashmiri Kumkum Priya" is one of the beautiful names , as being worshiped during Bhawani Sahsranama Archana and Homa--Yajna. Various Shakti Peethas are being adored, popularly known as the Siddha Peetha--the seat of perfection, source of spiritual energy and a place to invoke the Shaktopaya--a means of energizing the self through devotion and meditation, to reach the Ultimate Shiva, which is not different from Bhava, Rudra Hara or Amriteshvara. Shri Chakraeshvara is in the nucleus of the Sharika Devi, adored with thousand names, and fifteen Bijaksharas, of the Kadi Vidya, of the Kashmir Agama Shastras.. Such questions needed a rationalistic approach of study rather to believe in tradition and myth, for that age. Hence the Kashmir Shaivism evolved, but it evolve exactly in the expressive way of the reality, as realized, by the rishis of the time..

Dr. Radhakrishnan has very truly said that spiritual life was the true genius of India. Those who made the greatest appeal to the Indian mind were

not the military conquerors, not the rich merchants or the great diplomats but the holy sages, the Rishis who embodied spirituality at its finest and purest. The great sages and seers or the holy men had the vision to realize the truth according to the need and requirement of the place and time. Ekam is Sacchidananda, it is the combination of three sets within one unit of Reality. that is the Shiva --consciousness. The Vedic Mantra says: "Ekam Sad Vipra Bahuda Vadanti"-- stands true in the highly rationalistic age of the modern era. It is, therefore, no wonder why Kashmir could give its own philosophy of the Trika Shaivism, or the Trika vision of seeing Shiva, in the manifestation and beyond,where Shakti is inherent within in the Moola prakriti and Moola Prakriti as well.this very sublime thought has the scientific base. it gave rise to the Shaktivaad /tradition of Kashmir.A philosophy of integration evolved, in the Agamic character of philosophic learning and practice.

Philosophy in its widest etymological sense means " love of knowledge. " It tries to know things that immediately and remotely concern man. What is the real nature of man ? What is the end of this life ? What is the nature of this world in which he lives? Is there any creator of this world ? How should man live in the light of his knowledge of himself, the world and God ? In the Shaivistic language,we can say that the Trika of Kashmir is an enquiry in the creator--Siva, in its Bhairava form, and as manifestation ,it is Shakti or Moola Prakriti and the Nara--the human being. both Shiva and Shakti are the supporting factors of Divinity for a human being, known as Nara.These are some of many problems that have been discussed thread bare in the Shaivistic philosophy of Kashmir. It is easily intelligible because it does believe in the existence of matter and spirit. Life is worth knowing and hence worth enjoying and celebrating. There seems to be vision of truth (darshana). According to Rabindranath Tagore, saying in " The Spirit of India ", " Brahman is Truth, Wisdom and Infinite-Satyam, Jnanam Anantam Brahma. Peace is in Brahma, goodness is in Brahma and the unity of all things. He who is one, who is above all color distinctions, who dispenses the

inherent needs of men of all colors, who comprehends all things from their beginning to the end. Let Him unite us to one another with wisdom which is the wisdom of goodness.

The Trika Shaiva philosophy is typical of the entire range of the Sanatana thought. It subscribes to the belief in three padarths or categories viz., God, Soul and the bonds, as Pazes thirty six Tattvas/principles as against the twenty four of the Sankhya and Yoga system. Panchratra also recognizes twenty four principles. According to Paushkara Agma- "The Advaita Vedanta reckons thirty six principles, but the new principles in this scheme are not independent principles, being for the most part, modification of one principal, Vayu the cosmic force. "

We have the five gross elements known as "Mahabutas"- ether, air, fire, water and earth; the last possesses the five qualities of sound, touch, colour, taste and odour; ether has sound alone. These qualities are called " Tanmatras ". According to "Paushkara-Agma " , it is very much of an idealistic view of susbstence. The tanmatras are themselves evolutes of that variety of individuation (ahankara) wherein the quality of darkness and inertia (tamas) is predominant. This variety of " Ahankara " is also called bhutadi, since it is indirectly the cause of the elements. According to Sankhya " manas " is recognised to be an organ of both sense and action. Ahankara is itself derived from " Buddhi " or intellect. It is the determining faculty and self-derivative. Buddhi, Ahankar, manas and chitta constitute the internal organs. Thus the twenty four impure principles are known as " Bhogya-kanda."

Further, in Shaiva system, there are seven mixed principles where Moola Prakriti is termed as " Prakriti-Maya ". It is the product of " Ashudda Maya and it evolves primarily into three principles- Kala (Time), Niyati (Destiny) and Kala. Time is an independent Principle. In experience, we observe that even when all necessary causes are present, the effect is not produced except with the passage of time. We find that time matures and time heals. Destiny sees that every soul has its due in the matter of the

enjoyment of its appropriate fruit. Kala is the instrument whereby the darkness that envelopes souls is removed in part. It has two functions to evolve into "Moola Prakriti " and on the other into Vidya (true knowledge) and Raga (attachments) Kala, Niyati, Kaala, Vidya and Raga are termed as five sheaths or pancha kanchukas. According to Tattva Traya Nirnaya, the five Kleshas are called Pumsatva Mala or human impurities and the soul is admitted to be known as Purusha Tattva.

The pure principles are five. Siva Tattva is the first of these and the cause of the rest - Shakti, Sadasiva, Ishwara and Shuddhvidya. Shivatattva is one, pervasive and eternal, it is the resultant of both knowledge and action and happens to be the cause of other pure principles. It is not however to be identified with Shiva. Neither Shiva himself nor his inherent Shakti can be directly the cause of any principles as they would then be the cause liable to transformation and affected by inertia. Thus Shiva Tattva is an evolution through " Maha Maya " or cosmic force quite different from "Ashuddh maya" as mentioned earlier. Dr. Burnett has translated the Aghora Siva's commentary on the *Tattva Prakasha* in the following manner " Even the realistic school has to admit Maya to be a Parigraha Shakti. While, however, the idealistic school draws what seems to be the natural inference and compares the product to the reflection in a mirror.... Aghora Shiva condemns it as an interpolation According to him There is an order of evolution and involution even among the pure principles.

Souls are naturally infinite, pervasive and omniscient, yet they experience themselves as limited, finite and little knowing. This is due to the bonds of " Anava " Karma and Maya. Souls which have all the three kinds of bonds are called Sakalas. Those for whom Maya alone has been resolved by the involution of the worlds in the periodical deluges are called Pralaya Kalas.

God is pure, omnipotent, omniscient, gracious, eternally free from bonds. He is both the material and the efficient cause of the world; through his Shaktis. He is the material cause and in His own nature the efficient cause. Souls in their essential nature are the same as God is, but their

potency is concealed by Anadi/ non- beginning " Anava. " The ignorance of souls can be removed partially through the bodies, instruments provided by " Ashuddha Maya "- the physical world around us. God functions through His own energy called the energy of concealment (Tirodhan Shakti). Through mere momentum or through the residue of Prarabdha Karma, the physical body may persist for a while after spiritual illumination; but it does not fetter the enlightened soul since it is not cognised as such. The attainment of Shivatva may be understood as complete merger in Shiva or the realization of an identity of essence in spite of difference in existence.

The origins of Shaivism or the roots of Shaivism are found in pre-Aryan society. The hold of Shaivism extends not only over the whole of India, from the Indus valley to Bengal but beyond the northern mountains to central Asia. The characteristics of Shaivism are the exaltations of Shiva above all other gods, the highly concrete conception of the deity and a close relationship between Siva and his devotees. On the one hand, Shiva is identified with the eternal Absolute, formless. On the other hand, he is the God of all gods, potent for good and evil. He is " Girish ", " Ishan " and " Maheshvara, Amriteshvara "--- the Supreme Lord.

In *Yajur Veda*, Shiva is known as Rudra: The word Rudra in Sanskrit is Bheeshan,which is dreadful, but in reality,Rudra is the essence of all auspicipusness, where dreadfulness, or dissolution is the meeting point of new realm, which happens to be Pashupati,mahadeva and Ishana.. Though *Shveta-AshvetraUpanishad* identifies Rudra as the Brahman of the Upanishads, and the puranas speak of Rudra asan importanttriadic Devata or deity.

नमस्ते अस्तु भगवन्विश्वेश्वराय महादेवाय त्र्यम्बकाय
त्रिपुरान्तकाय त्रिकाग्निकालाय कालाग्निरुद्राय नीलकण्ठाय
मृत्युंजयाय सर्वेश्वराय सदा शिवाय श्रीमन्महादेवाय नमः

namaste astu bhagvanviśveśvarāya mahadevāya tryambakāya
tripurāntakāya trikāgnikālāya kālāgnirudrāya nīlakaṇṭhaya
mṛtyuṁjayāya sarveśvarāya sadā śivāya śrīmanmahādevāya namaḥ

" Prostrations to the Lord, the Master of the Universe, the great God, the three eyed one, the destroyer of Tripura, the extinguisher of the Trika fire and the fire of death, the blue-necked one, the Victor over Death, the Lord of all, the ever peaceful one, the glorious God of gods. He is attained by Tapas or austerity and comes to our refuge and frees us from all bondage."

In the *Yajur Veda ~Taittiriya Samhita*, " VI 2 3, however we meet with stories concerning Rudra's exploits such as killing the "Asuras" and destroying their "Tripura."

Due to the advancement of Hindu mathematics,the form of eliptical shape was attributed to Lord Shiva, which is an extension of the Bindu. It has been felt to simplify the highest Truths in the symbolic fashion. Lingam has been the emblem of Shiva. The worship of the Shiva in the form of Linga, is purely a symbol. In other words, the Puranic exaltation of Linga worship over image worship, the former Lingam is due to Shiva becoming a pillar of fire, whose top and bottom could not be seen by Brahma and Vishnu.

Shiva is known as Pashupati (the lord of creatures). Abhinav Shankara in his Rudrabhashya lays the foundation for the tenets of Saivism concerning pati, pashu and pasha (bondage). Kaivalya Upanishad describes Shivayoga as a means of realease. Shaivism closely agrees with the Sankhya in its dogmatics and with the Yoga school in its practical discipline.

Role of Shakti in Shaivism is clear from Lalita, Bhawani and Rajinya Sahasranam. Sri Chakra worship stands a witness to the unification of Shakti and Shiva. Sri Chakra is the symbol of the infinite.

Sri Aurobindo in his epic work Savitri, has sung the praises of the symbol of the infinite as under:

The unseen grew visible to student eyes, Explained was the immense Inconscients Scheme Audacious lines were traced upon the Void; The infinite was reduced to Square and Cube Arranging symbol and significance They framed the Cabbla of Cosmic Law, The balancing line

discovered of Life's technique And structured her magic and her mystery. - *Savitri* (11:11)

Consciousness in the spirit and it is responsible for the Truth and Bliss. Arunopanishad says : "Realise in us the microcosm, Thy form of Macrocosm. Make me know again". In Shaiva system we can't ignore the Shakti, the energy force of Shiva.

Shankara in *Soundarya Lahari* explains the unification of Shiva and Shakti in the following fashion:

Sri Chakra is verily the macrocosm as well as the microcosm, is the body of the two in one, Shiva Shakti. Sri Aurobindo emphasised it as under:

"This is the knot that ties together the stars; The two who are one and the Secret of all power, The two who are one are the might and right in things " - *Savitri* (1.4)

In Kashmir Saivism is known as " Trika Philosophy " or Trika Shasana. Trika Shastra symbolises the same Trayambhaka Sampradaya or Rahasya Sampradaya. Trika accepts the most important triad Shiva, Shakti and Anu or atom (matter) or again Shiva, Shakti and Nara or lastly of the godesses Para, Apara and Paratpara. It also explains non-dual (abheda), non-dual cum dual (bhedaabedha) and dual (bheda).

This system has two main branches Spanda and Pratibijna. The Trika is also known as " Svatanryavaada ", " Svantantriya " and Spanda expressing the same concepts. Abhaasvada is another name of the system. It is called Kashmir Shaivism, because it enriched its culture, literature and spiritual integrity.

The Trika is a spiritual philosophy. Its concepts are experience concepts. Its greatest exponents are Yoginies of high stature who showed wonderful insight into abstruse points of philosophy. (*Pratybigna-Karika* I-38)

This system is a statement based on experience about the nature of Reality and a way of Life. Among the Agamas, *Malinivijaya, Svachhanda, Vignana Bhairva, Ananda Bhairva, Mrigendra, Matang, Netra Svayambhu and Rudrayamala* happen to be the chief ones, they were written to stop the propagation expounding a purely advaitic metaphysics of *Siva Sutra*

revealed to a sage called Vasugupta (9th centurbigna Shastra is really the philosophic branch of theTrika. Siddha Somananda, the disciple of Vasugupta is credited with adopting the method of giving an elaborate treatment of his own views. *Parmartha Sara* and *Tantra Sara* both by Abhinavagupta and *Pritibigna Hridaya* are three but important works of the school--- Tantraloka.

According to the Trika, the Shastras have eternal existence. It means wisdom, self-existent and impersonal. It is also known as:

' Shabda ' and ' Vak. ' Shastra is authority according to Tantrasara, told or revealed by the Supreme Lord. Therefore, Shabda creates or manifests every thing. Reality is ineffable and beyond any descriptions. Trika tries to formulate a philosophy about its nature. Shiva and Shakti are not two separate realities. Kalidasa in *Raghu Vamsa* refers to Siva and Shakti as " Jagtah Pitarau Vande Paarvati Parameshwarau ". Like fire and its burning power, Shiva and Shakti are the same identical facts though they are spoken of as distinet (*Siv Drishti* III. 7). Shakti is known as Swantriya and the principles of universal manifestation of five fold aspects as Chit Shakti- the power of self consciousness entails Ananda enjoyment and wonderment on the part of Siva, bliss gives rise to Ichha, desire to create, then Jnana or knowledge leading to Kriya Shakti will to act. According to *Tantrasara*, some times, Chit and Anada Shaktis are kept in background; Icha, Jnana and Kriya are taken to be the principal powers.

Universe is Shva's Krida or play. Siva's self imposition of limitation upon Himself and also His breaking the fetters and returning to His own native glory are both Krida and universal play. Shiva as Shakti manifests Himself as a correlated order of knower’s, knowable and means of knowledge. The limited individual is subject to ignorance, which according to the Trika is two fold

viz. paurasha and bandha. The descent of the force of grace achieves two purposes: first pasha-kshya, the destruction of fetters and secondly Shivatva

yoga - the restoration of Shiva-hood. The most important of this is Diksha or initiation.

Conclusion:

The Trika says :When one is brought to a real Guru, then It awakens the " kriya-shakti " in the limited soul. It is termed as the Gurur-Upayah.In addition to it, there are three " Upayas " or means of attaining the supreme goal. They are " Shambhava, Shakta and Anavupaya ". Due to Shaktipat or descent of grace in a very intense degree, everything needed for the realisation, beginning from the liquidation of the atomic impurity down to the recognition of the state of Paramashiva may be achieved by the aspirant immediately and without going through any Sadhna or discipline. Samvid is the only reality, knowledge of duality is nothing in itself and can be removed through the rise of Shuddha Vikalpa of Nirvikalpa. "Dhyana means meditation in the heart space or " Hriday-Akash " on the Supreme Reality. By the process of meditation the whole field of knowable is swallowed up and absorbed into the knower. Uchchara means the directing the 'pranta' or vital force upwards in the process of meditation. Through these already experienced means, the limited individual attains the rich treasures of his own true Self.The Trika advocates ---Divinization of the Soul means the recognition of its own identity with Parmashiva. The Trika philosophy promises to satisfy both matter and spirit. It does not give independent reality to Prakriti. It is a stage in the evolution of the universe out of parmashiva.

The Concluding remark as that Trika philosophy is a virgin field of research and will repay the most conscious labor of philosopher for many years to come.

Selected Bibliography :

1. Acharya Abhinavgupta, *Tantraloka* Part 1 Pub: J & K Research Deptt.

2. Acharya Abhinavgupta, *Parmarthasaara*, J & K Research Deptt.

3. Acharya Vasugupta, *Shiva sutras*, trans; Jaidev Singh, Pub: Motilal Banarasidas, Delhi.

4. Acharya Utpala, *Shiva Drishti*, Pub. J & k Research Deptt.

5. Kshemaraja, *Para Praveshika*, Pub. J& K research Deptt.

6. Raina C L , *Saivism in Prospect & Retrospect*.Vivekananda Kendra,Kanya Kumari.

7. Sri Aurobindo, *Savitri*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

9. Siboo Jagannath, *Kashmir Shakta Vimarsha*, Kashmir Shakti Kendra, Srinagar Kashmir.

10. Swami Man Kak, *Svatantra Deepika*, Digitilised M S S , Aphorism translated by Dr C L Raina.

2 KH 19, Shastri Nagar
Ajmer, 305001

शाक्ततन्त्रे वाक्तत्त्वमीमांसा

भास्कररायः

शाक्ततन्त्रे वाग्विमर्शः

शैव-शाक्ततन्त्रे तत्त्वं त्रिविधं शिवतत्त्व-विद्यातत्त्व-आत्मतत्त्वश्च भेदतः। तेषां मध्ये शिवतत्त्वं द्विविधं शिवतत्त्व-शक्तितत्त्वश्च । विद्यातत्त्वं सदाशिव-ईश्वर-शुद्धविद्यानाश्च त्रिविधं। माया-कला-विद्या-राग-काल-नियति-पुरुष-प्रकृति-बुद्धि-अहङ्कार-मन-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकर्मेन्द्रिय-पञ्चतन्मात्रा-पञ्चभूतानाश्च भेदतः एकत्रिंशत् प्रकाराः। शिवाधारितं दर्शनं शैवदर्शनं शक्त्याधारितं दर्शनं शाक्तदर्शनं च। शैव-शाक्तश्चोभयोः दर्शने षट्त्रिंशत् तत्त्वानि स्वीकृतानि किन्तु परमशिवस्य सत्ता तत्र न स्वीकृता।[१] नूनं कारणमिदं परमशिवस्य विश्वातीतः तत्त्वातीतश्च भावः। अप्रतिहतशक्त्यायुक्तः परमशिवः स्वातन्त्र्यभावेन विश्वमयरूपं[२] इत्यप्रकारकं भ्रामकव्युत्पत्तिः अस्माकं हृदि आयाति। वस्तुतः स विश्वोत्तीर्णः[३] भवति। शक्तिः विश्वात्मिका, विश्वाकारा च। शक्तेः बहुनि रूपानि सन्ति तेषां मध्ये चित्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान-क्रिया च मुख्यशक्तिर्भवति। चित् प्रकाशात्मकरूपा, तेन शिवं प्रकाशयति। आनन्दरूपा शक्त्या शिवः आनन्दानुभूयते। इच्छाशक्त्या जगत्प्रपञ्चस्य सृजन-पालन-संहारश्च कर्तुं शक्यते। ज्ञानशक्त्या शिवः ज्ञानमनुभूयते। अपरा च क्रियाशक्तिः तया भिन्नेषु रूपेषु स्थीयते। अद्वैतवादी शैव-शाक्तदर्शनानुसारेण वस्तूनां नोत्पत्तिर्भवति न च विनाशः। प्रलयः इत्युक्ते प्रत्युतनिगिरणावस्था। परमात्मनः इच्छाशक्त्या तस्याभिव्यक्तिः अभवत्।

प्रकाशःविमर्शश्च

परमशिवः द्वे रूपे तिष्ठतःप्रकाशः विमर्शश्च। शिवः प्रकाशरूपं शक्तिश्च विमर्शरूपा।[४] विमर्शशक्तिः शिवे स्थिता, न तद्भिन्ना प्रलयकालेऽपि शिवे विद्यते सा नित्या, चिन्मयीरूपा, शिवाभिन्ना च । शिवः शक्त्या पञ्चकृत्यानां (सृष्टि-स्थिति-संहार-तिरोधान-अनुग्रहानां च) निष्पादनं कर्तुमर्हति। परमशिवः प्रकाशात्मरूपः तस्य प्रकाशनेन तद्भिन्नं किमपि न दृश्यते।[५] अनावृतात्मस्वरूपज्योतिः हि प्रकाशेतिपदेनाभिधीयते, प्रकाशरूपः परमशिवः सदा विमर्शशक्त्या पूर्णाहन्तारूपा आनन्दशक्त्यां स्पन्दति। परमेश्वरः मायारूपिणी स्वातन्त्र्यशक्त्या विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकलश्च स्वरूपं विदधाति। तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः, स्वातंत्र्यं आनन्दशक्तिः, तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः, आमर्शात्मिकता ज्ञानशक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं च क्रियाशक्तिर्भवेत्। प्रकाशः अहंरूपात्मकं आत्मविमर्शः भवति। प्रकाशेन हि अहन्ता इत्यप्रकारकं ज्ञानं हृदि उद्भासते। अहन्ता शनैः शनैः

इच्छा-ज्ञान-क्रियाभिश्च पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी च रूपेषु विदधाति। प्रकाशः अहंरूपविमर्शैव अवभासते। अहं विमर्शः हि इच्छा-ज्ञान-क्रियाभिश्च युक्त्वा पञ्चशक्तयः (सृष्टि-स्थिति-संहार-तिरोधान-अनुग्रहान् च) अभिव्यज्यते। प्रकाशः परमशिवस्य स्वभावे अहंपरामर्शात्मकं ज्ञानं दृश्यते। सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्वयुक्तेति परमशिवस्य प्रकाशत्वरूपं इत्याह।[६]

इदं प्रत्ययस्य संवेदनं हि विमर्शशक्तिः। इदं हि विश्वरूपा भवति। इदं परामर्शात्मकं ज्ञानं भवति। तत् प्रत्यये समग्र प्रपञ्चस्य सर्वाः विषयाः निहिताः। जगत्याऽस्मिन् सर्वेषु विषयेषु अहंकारात्मकं ज्ञानं निहितं। अहंकारात्मकमिति ज्ञानं न तु इन्द्रियेनगोचरावस्था। अहंकारः पदेन अहंज्ञानस्य बोधनं संभवति किन्तु मानवाः अहं ज्ञानस्य तत्त्वान्वेषणाय सदा प्रवृताः। सा अप्रत्यक्षगोचरीभूतावस्था। सा केवलं योगिभिः गन्तुं शक्यते। सृष्टिप्रकियायां अहं इत्यप्रकारकं ज्ञानं इदमिति ज्ञानेन बोध्यते, प्रलयावस्थायां तस्य विपरीत दशा अभिलक्ष्यते। विमर्शः पश्यन्ती वाचोवस्था। विमर्शेन अहं ज्ञानस्य निवारणं नार्हति तस्य न्यूनमेव परिवर्तनं जातं। विमर्शः ज्ञानं अनुभूतिजन्यज्ञानमिति शाक्ताचार्यैः मन्यते।[७] प्रकाशरूपं परमशिवः प्रकाशरूपं परित्यज्य विमर्शे परिवर्तितः। विमर्शः हि स्फुरत्ता, स्पन्दः, महासत्ता, परावाचां चेति पदेनाभिहितः। विमर्शः प्रकाशस्य अन्तर्लीन-अनुत्तरा च अभिन्ना शक्तीति। परमशिवस्य स्फुरणात्मिका शक्ति खलु विमर्शशक्तिः तया जगतः उत्पत्तिरभूत् तस्य पालनं संहारं च कुर्वन्।[८]

प्रकाशः विमर्शश्चोभयोः परस्परं अभिन्नरूपं[९] तयोर्मध्ये वाच्यगतः भेदः परिलक्ष्यते न तु अर्थगतः। शिव-शक्त्योर्मध्ये सामरस्येन हि परमशिवस्य स्वरूपं उद्भास्यते। शिवं विना शक्तेः काऽपि सत्ता नास्ति, शक्तिं विना शिवः तथैव च।[१०] नूनं आत्मरूपिणी शक्तिः परमशिवस्य विमर्शेति। विमर्शशक्त्या शिवे अहं, अहमिदं, इदमहं चेत्यप्रकारत्मकं ज्ञानं अवभासते। परमशिवस्य विश्वात्मकं रूपं हि शैवदर्शनेषु "विमर्शः" पदेनाभिहितं। शिवैकः हि प्रकाशेन विश्वोत्तीर्णरूपं विमर्शेन च विश्वमयरूपमिति। प्रकाशावस्थायां शिवः परावाग्रूपं, एतस्यामवस्थायां स विश्वोत्तीर्णरूपेन विभासते। सा चितिरूपावस्था। शिवस्य विश्वोत्तीर्णावस्था अखिलभूमण्डले व्याप्ता; प्रकाशेन तस्य विभाजनं न संभवति। विमर्शः हि शिवस्य विश्वमयावस्था, विमर्शः शिवस्य स्वातंत्र्यशक्तिरस्ति।[११] विमर्शेन प्रकाशं अनुभूयते। यत्र यत्र प्रकाशः विद्यते तत्र तत्र विमर्शोऽपि च विद्यते। यथा दर्पणं विना मुखस्य प्रत्यक्षीकरणं न विज्ञापयति तादृशः विमर्शं विना प्रकाशस्य पूर्णरूपं नानुपलक्ष्यते। लौकिकेऽपि यथा सुरायां मादकताऽस्ति किन्तु तस्याः ज्ञानं सुरया नानुपलब्धुं शक्यते तादृशः शिवे शक्तिः अनुस्यूता किन्तु तस्याः ज्ञानं शिवोऽपि नानुभवितुमर्हति केवलः प्रकाशविमर्शश्चोभाभ्यां तस्याः ज्ञानं लब्धुं शक्यते। विश्वे प्रपञ्चेऽस्मिन् त्रयः स्तराः सन्ति- अभेदभूमि-भेदाभेदभूमि-भेदभूमिश्च भेदतः। अभेदभूम्यां परमशिवे बीजात्मकं स्पन्द-इच्छा च शक्ती स्थिता, सदाशिवेऽपि अस्फुटः स्थितिरस्ति। भेदाभेदभूम्यां द्विविधं तत्त्वं स्वीकृतं ईश्वर-शुद्धविद्या च ईश्वरेति स्फुटः स्थितिः अङ्कुरिता स्थितिः च,

शुद्धविद्या च स्फुटतरावस्था सा प्रकाशमयी। भेदभूमिः मायाभूमेः पर्यायवाची। तत्र प्रमाता चिन्मयरूपा प्रमेयं च अचेतनपदार्थाः अभिधीयन्ते।

भूमिः	तत्त्वं	स्थितिः	विमर्शः
अभेदभूमिः	शिवः/परमशिवः	बीजरूपा प्रथमा स्पन्दशक्तिः	अहमस्मि
	सदाशिवः	अङ्कुरायमाणस्थितिः	
भेदाभेदभूमिः	ईश्वरः	अङ्कुरिता स्थितिः, स्फुटः स्थितिश्च	अहमिदम्
	शुद्धविद्या	स्फुटतरा स्थितिः, प्रकाशमयी च	
भेदभूमिः	माया	प्रमाता चिन्मयीरूपा, प्रमेयं च जडात्मकं	इदमहम्

शाक्ततन्त्रे विमर्शेति महात्रिपुरासुन्दरीदेवीं बोधयति। सा नित्या, अनिर्वचनीया, अद्वितीयाकारा, अतुल्यस्वरूपा च।

सा आद्या शक्तिरनवच्छिन्ना पराभट्टारिका महात्रिपुरासुन्दरी जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। सैव शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वमयसर्वप्रपञ्चात्मिका तदुत्तीर्णा चेति सर्वोपनिषत्प्रसिद्धा त्रिपुरा अभिधीयते। एवं हि सत्सम्प्रदायविद्भिः महायोगिभिः पुरुषैः त्रिपुराशब्दनिर्वचनं क्रियते। कथं त्रिभ्यस्तेजोऽबन्नादिभ्यः पुरा भूता त्रिपुरेति।[१२]

महात्रिपुरासुन्दरी विश्वात्मिका-विश्वोत्तीर्णा-साकारा-निराकारा-विश्वरूपा-विश्वातीता-सर्वप्रपञ्चात्मिका चेति तस्याः विशेषणानि सन्ति। सूर्य-चन्द्र-अग्नीनां चोपरि सा स्थिता। त्रिपुरेति त्रयपथां (सामीप्य-सालोक्य-कैवल्यं च) अधिश्वरेति। "महात्रिपुरासुन्दरी नादरूपा, ध्वनिरुपा, शब्दरूपा, ओम्-काररूपा, वाग्रूपा(परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी च), मन्त्ररूपा, भारतीरूपा, वाणीरूपा, अक्षररूपा, मातृकारूपा, वर्णरूपा चेत्यादि तस्याः स्वरूपा। सर्वेषां मूले केन्द्रबिन्दुरूपेण सा स्थिता। सा परावाग्रूपा, शब्दब्रह्मरूपा, इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां च समाहारः तस्यां भवतीति।[१३] शिवतः क्षितिपर्यन्तं सर्वं तत्त्वं तत्र निहितं। शक्तिरूपा निर्मलदर्पणे शिवः स्वरूपं पश्यति। यथा शक्ति-शक्तिमान् चोभयोर्मध्ये कोऽपि भेदः नास्ति तादृशः शिव-शक्त्योः मध्येऽपि भेदः न दृश्यते। शिवतत्त्वं ज्ञानशक्तिरूपं, शक्तितत्त्वं च क्रियाशक्तिरूपमिति।[१४] "अहं" शब्देन शिव-शक्तिश्चोभयोः बुध्यते। "अ" इति वर्णानां प्रथामाक्षरः "ह" इति अन्तिमाक्षररूपं। अ-इति अनुत्तरलिप्या हश्च विमर्शलिप्याभिधीयते।[१५] यादृशः शिव-शक्त्योर्मध्ये सम्पूर्णं जगत् निहितं तादृशः अ-हकारयोः मध्ये सर्वाः वर्णाः निहिताः। अ-कार-ह-कारश्चोभयोः सामरस्येन पराशक्तेरुत्पत्तिर्भवत्। पराशक्तिः महात्रिपुरासुन्दरीरूपा। पराशब्देन शक्तेः विश्वमया-विश्वतीता च बुध्यते। सा मूलभूता शक्तिरस्ति।

पराशक्तिः हि परावाग्रूपा तस्याभिव्यक्तिः हि सर्वमिदं जगतोत्पत्तिरभूत्। मूलकारणबिन्दुरूपा परावाक् क्रमशः पश्यन्ती–मध्यमा–वैखरी भेदतः त्रिविधाः।

त्रिपुरायाः स्वरूपं त्रिकोणेन विलास्यते। "अ"(ज्ञानात्मकं) इति प्रथमबिन्दुः स **शब्दब्रह्मरूपं**, "ब" (क्रियात्मकं) द्वितीयः स **नादरूपं**, "स" (इच्छात्मकं) तृतीयश्च **बीजरूप**मिति। तेषां केन्द्रेषु बिन्दुः स्थितः जगतः उत्पत्तेर्मूलकारणं बिन्दुरस्ति। बिन्दुः हि परावाचः कारणबिन्दुरूपं। बिन्दुः मूलतःद्विविधः श्वेतबिन्दुः रक्तबिन्दुश्च। प्रकाशरूपं परमशिवस्य चिति यदा विमर्शेन उद्भास्यते, स महाबिन्दुः इत्याह। महाबिन्दुः सदाशिवरूपं। चित्तोपरि महाबिन्दुः प्रतिबिम्बितं। महाबिन्दुतः बिन्दुपर्यन्तं गमनार्थं नवावस्थाः दृश्यन्ते। याः क्रमेण उन्मनी, समनी, व्यापिनी, शक्तिः, नादान्तः, नादः, रोधिनी, अर्धचन्द्रं, बिन्दवश्च। महाबिन्दुः ब्रह्मरन्ध्रे स्थितः। कामेश्वर–कामेश्वरी चोभयोः तत्र तिष्ठतः। कामेश्वर यदा सृष्टिं कर्तुं इच्छति तदा स कामेश्वर्य्या साकं युक्त्वा चितिशक्त्यां विमर्शस्य प्रतिफलनेन महाबिन्दोः उत्पत्तिर्भवेत्।[१६] महाबिन्दुः श्वेतवर्णयुक्तः स रक्तविन्दोः अभ्यन्तरे गुप्तरूपेण स्थितः। महाबिन्दौ सृष्टि–स्थिति–संहारानाश्च समष्टिर्भवेत्।

कामः कला च

कामः शिवरूपः शक्तिश्च कलारूपा। त्रिकोणे रक्त–शुक्ल–मिश्रभेदतः बिन्दुत्रये स्थिता। रक्तबिन्दुः, श्वेतबिन्दुः, मिश्रबिन्दुः,बिन्दुश्च संमिलित्वा कामकलेत्युच्यते। श्वेतबिन्दुः शिवात्मकं, रक्तबिन्दुश्च शक्त्यात्मकं, तयोः परस्परयोः परस्परानुबिष्टेन जगदुत्पत्तिः कर्तुं शक्यते।[१७] श्वेतबिन्दुना अर्थो बुध्यते, रक्तबिन्दुना च शब्दमिति। तयोः परस्परयोः मध्ये अनुप्रबिष्टरूपेण स्थितः अपि च परस्परयोः परस्परात् पृथक् भवति। श्वेतबिन्दु–रक्तबिन्दुश्च सामरस्येन मिश्रबिन्दुं जायते। रक्तबिन्दुः अग्निरूपेण, श्वेतबिन्दुः चन्द्ररूपेण, मिश्रबिन्दुश्च सूर्यरूपेण विलास्यते। बिन्दुः इति अहंकारात्मकं अवस्था।[१८] कामकलावस्थायां श्वेतबिन्दुः रविः, रक्तबिन्दुश्च कामेति परस्परयोः सामरस्येन हि जगतः प्रपञ्चस्य सृष्टिः कर्तुं शक्यते। बिन्दुद्वयः परस्परानुविष्टेन हि वागर्थरूपी[१९] सृष्टिर्जन्यते।[२०] श्वेतबिन्दुः प्रकाशरूपं रक्तबिन्दुश्च विमर्शरूपं। विमर्शः हि अग्नि–चन्द्रयोः प्रकृतीति।[२१] श्वेतबिन्दुः– रक्तबिन्दुश्चोभयोः[२२]मेलने मिश्रबिन्दुर्जायते। मिश्रबिन्दुः अ–हश्चोभयोः, सितशोणबिन्दुश्चोभयोः सामरस्यावस्था।[२३] सूर्यः मिश्रबिन्दुरूपः स श्वेतरक्तबिन्दुनां सामरस्यावस्था। सूर्ये अग्नि–चन्द्रश्च निहितः। दिवाकाले सूर्यः अग्न्या जगति प्रभां विदधाति रात्रौ च चन्द्रमया प्रभां विदधाति। कामेति सूर्यस्य विशेषणं नूनं कमनीयतया केवलः सूर्ये विद्यते सूर्यः (रवि) हि कामरूपः।[२४] शिवशक्त्योः सामरस्यावस्था[२५] महाबिन्दुरित्युच्यते। महाबिन्दुः हि कामरूपः, कामबिन्दुः, सूर्यश्चेति तस्य विशेषणं। कलेति विमर्शरूपा।

कामकलायां श्वेतबिन्दु–रक्तबिन्दुश्च उभाभ्यां चत्त्वारि वाक्(परा–पश्यन्ती–मध्यमा–वैखरी च) षट्त्रिंशत् तत्त्वानि जायन्ते। बिन्दुः हि कामकामेश्वरीरूपा दिव्यमिथुनावस्थेति। विमर्शशक्तिः हि प्रकाशबिन्दुरूपा यदा विमर्शशक्तिः प्रकाशबिन्दौ अनुगच्छति तदा बिन्दौ उच्छूनशक्त्या(Swelling power) नादस्याभिर्भावः

भवति। बिन्दौ सर्वानि तत्त्वानि निहितं। नादः बहिरागत्य त्रिकोणाकाररूपं विदधाति। बिन्दु-विमर्शयोः मेलने नादरूपं शरीरे अहं इत्यप्रकारकं ज्ञानं उद्भासति। सूर्यःकामरूपं न तद्भिन्नं। कामकलायां त्रिविधाः पदार्थाः निहिताः ते च बिन्दु-विसर्ग-हार्धकलेत्यादि। हार्धकलेति महाबिन्द्वात्मिका। शुक्लबिन्दुः-रक्तबिन्दुश्चोभयोः "विसर्ग" पदेनाभिधीयते। कामकलेति तुरीयबिन्दुरूपा, तस्याः अधःभागे विसर्गाख्य बिन्दुद्वयोः तिष्ठतः तस्य अधः भागे हार्धकलास्थिता। तुरीय-विसर्गश्च मध्यभागे स्थितः बिन्दुः कामरूपः।

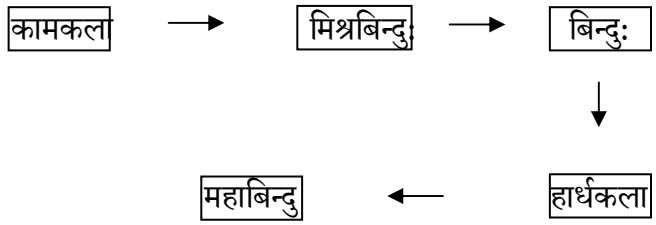

श्वेत-रक्त-मिश्रबिन्दूनां संयोगेन कामकलायाः उत्पत्तिर्भवति। महात्रिपुरासुन्दरी कामकलेति पदेन बोध्या।[२६] कामकलायां नाद- मूलबिन्दु-श्वेतबिन्दु-रक्तबिन्दुश्च चतस्रः शक्तयः सामरस्यं दृश्यते। कामकलाधारितं विद्या कामकलाविद्योच्यते। कामकलाविद्यायाः चिन्तनकाले त्रयबिन्दवः हार्धकलाश्च महात्रिपुरासुन्दरीदेव्याः शरीरे चिन्तयितव्यं। कलायाः उपरि त्रयबिन्दवः चिन्तयितव्यमिति। कामः योनिरूपः, बिन्दुद्वयं स्तनद्वयतुल्यं देवीशरीरे स्थिता। कामकलारूपा विमर्शशक्तेः चतुर्विधा सृष्टिः जायते। सा अर्थमयी-शब्दमयी-चक्रमयी-देहमयी त्रिको च भेदतः त्रिविधा।[२७] "अर्थमयी शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वरूपा। शब्दमयी परादिवैखर्यन्ता। चक्रमयी बिन्द्वादिभूगृहान्ता। देहमयी सूक्ष्मादिस्थूलान्ता।"[२८]

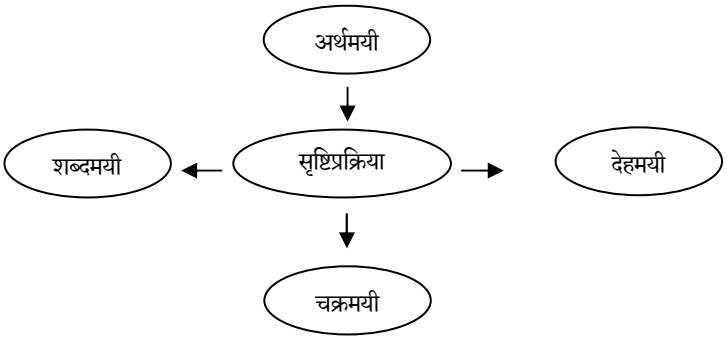

अर्थमयीशक्तिः शिवादि षट्त्रिंशत् तत्त्वानां समष्टिर्भवेत्। तत्र जगतः अर्थरूपी विवेचनं प्राप्यते। सा समग्रविश्वे व्याप्ता। जगत्याऽस्मिन् कोऽपि विषयः नास्ति य तत्र नान्तर्भूतः। शब्दमयीरूपा सृष्टिः सृष्टिप्रक्रियायाः सूक्ष्मतत्त्वं विवेचनं करोति। सा परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी च भेदतः चतुर्विधा। चक्रमयीरूपा सृष्टिः त्रैलोक्यमोहनः, सर्वाशापरिपूरकः, सर्वसंक्षोभकः, सर्वसौभाग्यदायकः, सर्वार्थसाधकः, सर्वरक्षाकरः,

सर्वरोगहरः, सर्वसिद्धिप्रदः, सर्वानन्दमयादि च भेदतः नवप्रकाराः। देहमयी च स्थूल-सूक्ष्म-कारण भेदतः त्रिविधा। अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज-जरायुजश्चापि भेदतः सा चतुर्विधा। बिन्दुद्वय श्वेत-रक्तश्च। श्वेतबिन्दुना सृष्टिविज्ञानं, रक्तबिन्दुना च शाब्दी-आर्थीश्च सृष्टिर्भवत्। यादृशः प्रकाश-विमर्शयोः मध्ये कोऽपि भेदः नास्ति तादृशः विद्यादेवतयोर्मध्येऽपि भेदः न दृश्यते। अत्र विद्येति पञ्चदशाक्षरीविद्योच्यते देवी च महात्रिपुरासुन्दरी। [२९]

शिव:	श्वेतबिन्दु:	काम:	शब्द:	चन्द्र:	प्रकाश:	वाक्
शक्ति:	रक्तबिन्दु:	कला	अर्थ:	अग्नि:	विमर्श:	अर्थ:

यादृशः शिवशक्तयोः मध्ये कोऽपि भेदः नास्ति ते केवलं तत्त्वरूपेण भिन्नं किन्तु महाबिन्दुरूपावस्थायां तयोर्मध्ये भेदज्ञानं न दृश्यते। वाक्-अर्थयोः मध्येऽपि तादृशः संबन्धः परिलक्ष्यते।

---

१. Śaivas andŚāktas speak of the Thirty-six Tattvas, showing, by the extra number of Tattvas, how Puruṣa and Prakṛti themselves originated. The northern or Advaita Śaiva Āgama and the Śākta Āgama are allied, though all Śaiva Scriptures adopt the same Tattvas…The particular description here of the 36 Tattvas, held by both Śaiva and Śāktas, is taken from the northern Śaiva Kashmir philosophical school, itself based on the older Āgamas such as *Mālinīvijaya Tantra* and others. (Woodroffe 1959 (5th eds): p. 181

२. विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वम्-इति तान्त्रिकाः (प्र.ह्. पृ. 23)

३. विश्वमयम्-इति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः (तत्रैव)

४. सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनद्युक्तः।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः॥(का.वि.1)

५. स जयति महान् प्रकाशो यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि। (व.र. 3)

६. ततश्च सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्वसर्वकर्तृत्वपूर्णत्वव्यापकत्वरूपपञ्चशक्तिसंवलितं परं ब्रह्म्येत्युक्तं भवति (चिद्वल्ल्यां पृ 4)

७. विमर्शो नाम विश्वाकारेण वा, विश्वप्रकाशनेन वा विश्वोपसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्। तस्यां तल्लीनत्वं नाम अन्तर्मुखत्वम्। (तत्रैव पृ. 3)

८. नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति॥ (व.र. 4)

९. प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्। स च प्रकाशो न पृथक् विमर्शात् (वि.भै.वि पृ 122)

१०. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवशक्तस्तथाभावानिच्छया कर्तुमीहते॥ (शि.दृ. 3.2)

११. शिवाभिन्ना पराशक्तिः सर्वकर्मशरीरिणी।
वामादीच्छादिभेदेन मिथुनत्रयतां गता॥(चिद्वल्ल्यां पृ. 6)

१२. चिद्वल्ल्यां पृ. 16

१३. द्विवेदी 2014 (1st vol): p. 89

१४. ज्ञानशक्त्यधिष्ठितत्त्वात् शिवतत्त्वस्य शक्तिशब्देनापि क्रियाशक्तिरभिधीयते क्रियाशक्त्यधिष्ठितत्त्वाच्छक्तितत्त्वस्य चिदानन्दस्वरूपिण्याः सर्वत्र ज्ञानक्रियाभ्यामेव प्रपञ्चनिर्माणदर्शनात् (चिद्वल्ल्यां पृ. 25)

१५. अणुतररूपानुत्तरविमर्शलिपिलक्ष्यविग्रहा भाति। (का.वि. 3)

१६. स्वस्वरूपप्रकाशत्वात्तत्रप्रतिफलनं नामस्वरूपावलोकनम्।तादृशप्रतिफलनस्वरूपावलोकने सति चित्तमये ज्ञानैकस्वरूपे प्रतिरुचिरुचिरे प्रतिप्रकाशमनोहरे कुड्ये महाबिन्दुर्निविशते प्रबिष्टो भवति। (चिद्वल्ल्यां, पृ. 30)

१७. परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टं परस्परम् अन्योन्यम् अनुप्रबिष्टमन्तर्गतम्। विस्पष्टं पृथग्भूतं चतत्।
एवम्भूतं सितशोणबिन्दुयुगलं कामकामेश्वरीरूपं दिव्यमिथुनं विभावयेदिति पूर्वेणसम्बन्धः (तत्रैवपृ.43)

१८. बिन्दुरहङ्कारात्मा (का.वि. 7)

१९. These are the great Triangle of Energy (Kāmakalā) from which Śabda and Artha, the forces of the physic and material worlds, arise (Woodroffe 1959: p. 242)

२०. वागर्थसृष्टिहेतुः पस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम्। (तत्रैव पृ. 60)

२१. कलाविमर्शशक्तिः। दहनोवह्निः। इन्दुःचन्द्रःतावैववविग्रहावाकारौययोर्बिन्द्वोः तौ दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू। (चिद्वल्ल्यां, पृ. 45)

२२. एवं द्विरूपयोस्तयोर्मध्ये एको विमर्शो रक्तबिन्दुरूपं भजते अपरः प्रकाशः शुक्लबिन्दुभावमेति। उभयोर्मेलने मिश्ररूपं सर्वतेजोमयं परमात्मस्वरूपं भवति। (चिद्वल्ल्यां पृ. 43)

२३. सितशोणबिन्दुसमरसीभूतो मिश्रबिन्दुरित्यर्थः। (तत्रैव पृ. 45)

२४. कामः कमनीयतया कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू ।(का.वि. 7)

२५. I will kiss them (the suffering saints) affectionately and embrace them so lovingly that I shall be they and they shall be I, and we two shall be united in one forever. (Kaviraj 2009: p. 189)

२६. काम्या कामकलारूपा कदम्बकुसुमप्रिया।
कल्याणी जगतीकन्दा करुणारससागरा॥(ल.स. 2.73)

२७. अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यापि च सृष्टिः। (व.र. 5)

२८. प्रकाशटीकायां (पृ. 28)

२९. विद्यादेवतयोः विद्या पञ्चदशाक्षरी। देवता महात्रिपुरासुन्दरी तयोर्वेद्यवेदकयोः वाच्यवाच्यकयोर्भेदलेशोऽपि ईषद्वैलक्षण्यमपि नास्ति। (चिद्वल्ल्यां पृ. 59)

शोधछात्र, संस्कृतविशेषअध्ययनकेन्द्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली–110067

तन्त्रालोक की आगमिक पृष्ठभूमि

योगेश शर्मा

यह वर्ष अभिनवगुप्तपादाचार्य के सहस्राब्दी वर्ष के रूप में मनाया जा रहा है। अभिनवगुप्तपादाचार्य भारतीय तन्त्रागमीय परम्परा में एक ऐसा नाम है जिसे सम्पूर्ण परम्परा का प्रधान प्रवक्ता कहा जा सकता है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य कश्मीर शैवदर्शन की अद्वयवादी परम्परा के आचार्य हैं। अभिनव *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* के रचयिता उत्पलदेव के प्रशिष्य व लक्ष्मणगुप्त के शिष्य थे। अभिनवगुप्त ने अनेक गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की। इसी का परिणाम है कि जहाँ अद्वैतवादी शैव दर्शन की चार शाखाओं का उल्लेख आता है (1. स्पन्द शाखा 2. प्रत्यभिज्ञा शाख 3. क्रम शाखा 4. कुल शाखा), वहाँ अभिनव को उपर्युक्त कौल और क्रम, स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा अद्वयवाद से सम्बद्ध सभी संप्रदायो का प्रवर्तक माना जा सकता है। इसका प्रमुख कारण उनके अध्ययन क्षेत्र के गुरु रहे । प्रत्यभिज्ञा एवं क्रम शखाओं में उन्हें लक्ष्मणगुप्त ने दीक्षित किया। इसके पश्चात् क्रम दर्शन के ही प्रधान आचार्य भूतिराज एवं उनके पुत्र हेलाराज[1] से भी क्रम शाखा का अभिनव ने अध्ययन किया। वामनाथ ने उन्हें द्वैत तंत्रो के सिद्धान्तों से परिचित कराया। भास्कर से अभिनव ने स्पन्दशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन किया। भट्टतौत काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र और व्याकरण तन्त्र एवं दर्शन जैसे विषयों के उनके गुरु थे और अन्त में शंभुनाथ से उन्होंने कुल सम्प्रदाय के दर्शन और साधना पक्षों का ज्ञान प्राप्त किया।[2] इन सभी के अतिरिक्त अभिनव के प्रारम्भिक गुरु के रूप में उनके द्वारा अपने पिता का ही उल्लेख किया गया है जिनसे उन्होंने व्याकरण, तर्कशास्त्र और साहित्य का अध्ययन किया अभिनव अपने पिता के रूप में तन्त्रालोक और परात्रिशिका के प्रारम्भिक श्लोक में स्वयं को नरसिंहगुप्त एवं योगिनी विमलकला का पुत्र बताते हैं।[3] यह देखने वाली बात है जिस आचार्य की अध्ययन की पृष्ठभूमि इतनी विशाल एवं व्यापक हो उसका सर्जनात्मक व्यापार कितना विस्तृत होगा इसी का परिणाम यह हुआ कि अभिनव द्वारा तन्त्र साहित्य का विश्वकोश कहा जाने वाला 37 आह्निकों में अत्यन्त विस्तृत ग्रन्थ लिखा गया। तन्त्रालोक के अतिरिक्त अभिनव ने लगभग 39 ग्रन्थों का प्रणयन और किया।

बोधपंचदशिका	*मालिनिविजयवार्तिकम्*	*परात्रिंशिका- विवरण*
तन्त्रसार	*तन्त्रवटधानिका*	*ध्वन्यालोकलोचन*
अभिनवभारती	*भगवद्गीतार्थसंग्रह*	*परमार्थसार*
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी	*ईश्वरप्रत्याभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी*	*पर्यन्तपञ्चाशिका*
घटकर्परकुलक-विवृत्ति	*अनुत्तराष्टिका*	*परमार्थद्वादशिका*

परमार्थचर्चा	*महोपदेशविंशतिकम्*	*क्रमस्तोत्रम्*
भैरवस्तोत्रम्	*देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्*	*अनुभवनिवेदनम्*
रहस्यपञ्चदशिका	*तन्त्रोच्चय*	*बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद*
अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनीवृत्ति	*पुरवोविचार*	*क्रमकेलि*
शिवदृष्ट्यालोचनम्	*पूर्वपञ्चिका*	*पदार्थप्रवेशनिर्णय- टीका*
प्रकीर्णकविवरण	*काव्यकौतुकविवरण*	*प्रकरणविवरण*
कथामुखतिलकम्	*लघ्वी प्रक्रिया*	*भेदवाद्य- विदारण*
देवीस्तोत्र - विवरण	*तत्त्वाध्व प्रकाशिका*	*शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्रम्*

तन्त्रालोक की पृष्ठभूमि

तन्त्रालोक के लेखन पीछे का उद्देश्य बहुत ही स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त तक आते-आते तन्त्र पर दूसरे प्रस्थानों के समान कोई भी स्वतन्त्र एवं समृद्ध ग्रन्थ नहीं था, किन्तु परम्परा अति प्राचीन एवं समृद्ध थी। ऐसे में उनके द्वारा तन्त्रागम के समस्त पक्षों एवं उसके सभी आयामों को अभिनव द्वारा एकत्र कर एक सफल प्रयास किया गया।

दूसरी जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि अभिनव के पास कश्मीर शिवाद्वयवाद की चार शाखाओं की विरासत थी । जिनमें सभी की अपनी स्वतंत्र परम्परा, स्वतन्त्र सिद्धान्त एवं स्वतंत्र साहित्य था। ऐसे में *तन्त्रालोक* जैसे ग्रन्थ में ही यह सम्भव हो सकता था कि शिवाद्वयवाद की सभी शाखाओं के साथ-साथ तन्त्र को दूसरे कश्मीरेतर साहित्य एवं सिद्धान्तों को एकरूपता दी जाए। और तन्त्रालोक इस दृष्टि से एक सफल प्रयास है।

तीसरा कारण परिकल्पनात्मक है। हो सकता है कि आचार्य शंकर (8 वीं शताब्दी) के आते-आते सभी दार्शनिक सम्प्रदायों की स्थिति अद्वैत वेदान्त की आभा में स्पष्टता के साथ प्रकाशित नहीं हो रही थी एवं अद्वैत का प्रभाव सभी को आकर्षित भी कर रहा था जिसके कारण परवर्ती आचार्यों ने सर्वाधिक वेदान्त पर चर्चा करना रूचिपूर्ण समझा ऐसे में कश्मीर शिवाद्वयवाद में शिवशक्ति के रूप में अद्वैत की स्थिति पर विचार किया जाना युक्ति संगत था एवं तन्त्रालोक जैसे विशाल ग्रन्थ की रचना होना भी सार्थक था। वैसे देखने में आता है कि आचार्य शंकर के पश्चात् ही शिवाद्वयवाद का सोमनन्दनाथकृत शिवदृष्टि एवं आचार्य वसुगुप्त कृत शिवसूत्र के रूप में व्यवस्थित ग्रन्थ आते हैं। सभी चार शाखाओं में सभी ने अपने-अपने व्यवस्थित ग्रन्थ 8 वीं शताब्दी के पश्चात् ही लिखे। और आगे चलकर उनको सम्पूर्णता देकर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा तन्त्रालोक लिखा गया। स्वयं अभिनवगुप्तपादाचार्य के द्वारा तन्त्रालोक को सम्पूर्ण आगमिक साहित्य का मूलसार बताया गया है।[4]

अभिनवगुप्त तन्त्रालोक के विस्तार के पक्ष में तर्क देते हैं वेदादि से नियमादि के विधि एवं निषेध आदि के विषय में जो भी विधान है उन सभी का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करने के लिए तन्त्रालोक जैसा ग्रन्थ है।[5]

तन्त्रालोक के लेखन की पीछे एक तर्क यह भी है कि कश्मीर को भारतीय ज्ञान का प्रमुख क्रेन्द्र माना जाता है। आचार्य शंकर के द्वारा 9वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत के सांस्कृतिक एकीकरण के समय श्रीनगर को शारदापीठ के रूप में ज्ञान का प्रमुख केन्द्र घोषित किया गया । वैसे भी कश्मीर का इतिहास सांस्कृतिक रूप में समृद्ध रहा है। प्रथम शताब्दी में कनिष्क के शासन काल में कश्मीर में ही चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया जो सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक विमर्श के बीज रूप में देखी जा सकती है। ऐसे में इस तरह की पृष्ठभूमि के रूप में कश्मीर साहित्य, कला एवं संस्कृति के बीज से आचार्य शंकर एवं अभिनव के काल तक आते-आते एक पल्लवित एवं पुष्पित वृक्ष बन गया जिसकी छाया सम्पूर्ण लोक को आच्छादित किए हुए थी। यह भी एक प्रधान कारण कहा जा सकता है विस्तृत तन्त्रालोक की रचना का, क्योंकि अभिनव भी उसी बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में पल्लवित एवं पुष्पित हुए।

तन्त्रालोक का प्रभाव

अभिनवगुप्त एवं अभिनवगुप्तकृत तन्त्रालोक का प्रभाव यह हुआ कि उसके बाद किया गया सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय विमर्श उसके प्रभाव से स्वयं को पृथक् नहीं कर पाया। कश्मीर शैव दर्शन दार्शनिक विमर्श एवं प्रस्थान के रूप में 14वीं शताब्दी में माधवाचार्य के द्वारा सर्वदर्शनसंग्रह में सम्मिलित किया गया।

तन्त्रालोक के प्रभाव के कारण ही व्याकरण दर्शन में अनेक महत्त्वपूर्ण आयाम संयुक्त किए गए। 18वीं शताब्दी तक आते-आते व्याकरण दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् नागेशभट्ट द्वारा अपने ग्रन्थों (लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा) में तन्त्रालोक में किए गए वाक् के विभाजन को परापरा, परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी के रूप में उपस्थापित किया गया।

तन्त्रालोक का ही प्रभाव था कि 11वीं शताब्दी के बाद साहित्य ने दार्शनिक स्वरूप लेना आरम्भ किया, क्योंकि इसके पश्चात् अनेक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने तन्त्रालोक पर तो टीका ग्रन्थ लिखे ही साथ साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर भी टीका ग्रन्थ लिखे। इनमें आचार्य जयरथ का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जा सकता है। आचार्य जयरथ के द्वारा जहाँ रूय्यक विरचित '*अलंकार सर्वस्व*' पर विमर्शिनी टीका लिखी गई, वहीं तन्त्रालोक पर विस्तृत विवेक टीका की रचना भी की गई।

तन्त्रालोकविवेक

तन्त्रालोक के विस्तार एवं सम्पूरक के रूप में ही विवेक टीका को देखा जा सकता है। तन्त्रालोकविवेक को जयरथ के सम्पूर्ण जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि के रूप में माना जा सकता है। तन्त्रालोक पर विवेक

टीका के लिए स्वयं जयरथ ही कहते हैं कि 'तन्त्रालोक पर टीका लिखते हुए मैं सर्जनात्मक के आनन्द से अत्यन्त अभिभूत हुआ।[6]

विवेकटीका की प्रमुख विशेषता यह है कि जिस परम्परा एवं प्रविधि का प्रयोग मूलग्रन्थ तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त द्वारा किया गया है, उसी परम्परा एवं प्रविधि का प्रयोग जयरथ भी करते हैं। वे पूर्वज्ञों को बड़े आदर के साथ देखते हैं एवं स्वयं के द्वारा लिखे गए टीका ग्रन्थ का उद्देश्य स्वयं को स्थापित करना अथवा अपने अभिव्यक्ति कौशल को व्यक्त करना नहीं मानते अपितु स्वयं ही संस्कारवान् बनने हेतु वे विवेक टीका का आरम्भ करते हैं।[7] कश्मीर शैव दर्शन के परवर्ती साहित्य में जितने भी ग्रन्थ (प्रत्यभिज्ञाहृदयम् भास्करी आदि) प्राप्त होते हैं उन सभी का आधार तन्त्रालोक ही रहा एवं यह भी तन्त्रालोक का ही प्रभाव है कि शैव दर्शन की अनेक शाखाओं के रहते भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन ही केन्द्र में रहा।

सन्दर्भ

1. हेलाराज को वाक्यपदीय के टीकाकार के रूप में भी देखा जाता है
2. श्रीशम्भुनाथ भास्कर चरणनिपातप्रमागतसंकोचम्।
   अभिनवगुप्त हृदयाम्बुजमेद्विचिनुत महेशपूजनहेतो॥ *तन्त्रालोक* 1/21
3. विमलकलामय अभिनवसृष्टिमहाजननी भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्त रुचिर्जनकः। *तन्त्रालोक* 1/1
4. यदुक्तमद्गुरुभिः अशेषागमोपनिषदालोके तन्त्रालोके। *तन्त्रसार*
5. तस्मात् वैदिकात् प्रभृति पारमेश्वरसिद्धान्ततन्त्रकुलोच्छुष्मादिशास्त्रोतक्तोऽपि यो नियमो विधिः वा निषेधो वा तथैव च उक्तं श्रीपूर्वादौ वितत्य तन्त्रालोकात् अन्वेष्यम्। वहीं
6. वाचस्तत्त्वार्थगर्भाः श्रवसि कृतवतो वल्लकी क्वाणहृदया
   नित्याभ्यासेन सम्यक्परिणतवयसा चिन्तयासेव्यमानान्।
   आश्लिष्यन्ती नवोढा निबिडनरमियं भावना लम्भयिष्य –
   त्यान्दास्रप्रवाहामलमुखकमलान् साम्प्रतं निर्वृति नः॥ – *तन्त्रालोकविवेक* 8/45
7. न ग्रन्थकारपदमाप्तुमथा सम्यपूर्वं
   वाक्कौशलं च न निदर्शयितुं प्रवृत्तः।
   किं त्वेतदर्थपरिशीलनतो विकल्पः
   संस्कारवांश्च समियादिति वाञ्छितं नः॥ *तन्त्रालोकविवेक द्वितीय आह्निक*, पृ.2

वनस्थली विद्यापीठ,
वनस्थली, निवाई (टोंक) राजस्थान
चलवाणी– 9509451183